ओ३म्

उपनिषत् प्रकाश

(ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य)

(भाष्यकार)

श्री १०८ स्वामी दर्शनानन्दजी सरस्वती

डा० धनीराम एम०ए०
द्वारा प्रदत्त

(अनुवादक)

श्री मास्टर अवधविहारीलाल चाँदापुर

(संशोधन तथा परिवर्द्धनकर्त्ता)

उपनिषत परिचय और भूमिका लेखक

श्री आचार्य विश्वश्रवा जी

"वैदिक रिसर्च स्कालर"

संस्थापक

वेदमन्दिर बरेली

नवम स स्करण १९४५ सवातीन रुपया
सजिल्द साढ़ेतीन रुपया

प्रकाशक
श्यामलाल सत्यदेव
वैदिक पुस्तकालय,
बरेली, लखनऊ

इस पुस्तक की नवम आवृत्ति तक २५००० प्रतियाँ निकल चुकी हैं।

मुद्रक
पं० भृगुराज भार्गव
भार्गव-प्रिंटिङ्ग-वर्क्स
लाटूश रोड, लखनऊ

* ओ३म् *

भूमिका

प्रश्न—कोई भी मनुष्य किसी कार्य को बिना प्रयोजन के नहीं करता। तुम्हारे! इन ईशोपनिषद् आदि के अनुवाद करने का क्या अभिप्राय है। और इसमें किन-किन बातों का वर्णन होगा ?

उत्तर—प्रत्येक मनुष्य की यह इच्छा रहती है कि दुःख से छूटकर सुख प्राप्त करें। और इसी के लिए समस्त संसार के मनुष्य रात दिन प्रयत्न करते हैं। परन्तु वेद विद्या का ज्ञान न होने से सुख और दुःख के ठीक-ठीक साधनों को न जानकर दुखदायक वस्तुओं को सुखदायक समझकर दुःख उठा रहे हैं। और ईश्वर, जीव और प्रकृति के गुण कर्म और स्वभाव का ठीक ज्ञान न होने से मनुष्य-जीवन जैसे अनमोल रत्न को पशुओं की भाँति केवल पेट पालने में खो रहे हैं। सहस्रों मनुष्य इस विद्या के न जानने से ऐसे बुरे मार्ग पर चल रहे हैं कि जहाँ उनकी आयु की पूँजी को दूसरों के हाथ से एक मिनट भी शान्ति मिलना कठिन है। और सब दुःखों से छुड़ाकर सुख देनेवाले परमात्मा को मनुष्यों ने ऐसा भुला दिया है कि लगभग सर्व संसार में उस केठीक-ठीक स्वरूप के जाननेवाले बहुत ही थोड़े मनुष्य रह गए हैं। शेष सब मनुष्य विपरीति इसके कि ईश्वर के गुणों का वर्णन करें, उसकी निन्दा करते हैं। कोई उस सर्वसहायक और परम शक्तिमान् को आकाश के कोठे पर कैद कर रहा है। और विपरीत इसके कि उसके बिना आधीन हुए अपने कार्यों को बिना सहायता के करे, उसकी सहायता के लिए फ़रिश्तों और पैग़म्बरों की वाहिएँ भर रहा है। कोई उसकी पवित्र आत्मा को भक्तों

पर दया दिखाने वाला बता रहा है। और सर्व संसार की उत्पत्ति अपने रसूल के लिये बता रहा है। कोई ईश्वर के साथ लम्बी चौड़ी मिला कर पिता पुत्र और रुहुल कुदस के नाम से जीव ब्रह्म प्रकृति की सत्ता स्वीकार कर रहा है; कोई ईश्वर की सत्ता से विमुख होकर सृष्टि को अनादि बता रहा है और मुक्त मनुष्यों को तीर्थंकर और सिद्ध कहकर उन्हें मोक्ष शिला पर आसीन सिद्ध करता हुआ पुजवा रहा है।

तात्पर्य यह है कि चारों ओर ईश्वर, जीव के सम्बन्ध में ऐसा अँधेरा छा रहा है कि जब तक इन पदार्थों का ठीक-ठीक ज्ञान संसार में न फैल जावे तब तक कोई मनुष्य भी सुख और शान्ति से जीवन नहीं व्यतीत कर सकता। नियम मार्ग तक पहुँचने का कहना ही क्या है। सर्व संसार का धर्म कर्म और वंश की प्रतिष्ठा और सदाचार सब धन के सहारे आ रहा है। जिसके पास रुपया है वह सहस्रों प्रकार की बुराइयों के करने पर भी सदाचारी है। बिरादरी में उसके दुराचारों पर दृष्टि डालनेवाला कोई नहीं। और जिसके पास धन नहीं, वह किसी प्रकार भी संसार में प्रतिष्ठा के योग्य नहीं गिना जाता। इस अवस्था को देखकर प्रत्येक ब्राह्मण, साधु जन जिनके धर्म में रुपये का रखना भारी पाप समझा जाता था, धन के कमाने में लग गये। तात्पर्य यह है कि बड़े-बड़े धर्म प्रचारकों को भी धन कमाने की धुनि ने धर्म के मार्ग से पृथक् कर अधर्म के मार्ग का यात्री बना दिया। जिनके विश्वास पर लोग अपनी आयु की नाव को संसार-सागर से पार लगाने के विचार में मग्न थे। वे लोग भी टके के ध्यान में फँसकर स्वयं अपनी आयु को भँवर में फँसा बैठे। ऐसी अवस्था को देखकर इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि समस्त देशभाषा जाननेवालों को ईश्वर, जीव और प्रकृति का ठीक-ठीक ज्ञान कराने के हेतु उपनिषदों का (जो ईश्वर के बनाए हुए वेदान्तों के व्याख्यान हैं) देशभाषा में अनुवाद किया जावे। और कुछ मित्रों के कहने से यह भी प्रतीत हुआ कि यह अनुवाद संक्षेप और केवल शब्दार्थ रूप में ही न किया जावे किन्तु जहाँ तक हो सके पूर्ण विस्तार के साथ ठीक प्रकार से और कुछ स्थानों पर आवश्यक आन्दोलन के साथ चलाया जावे। यद्यपि मेरी विद्या की योग्यता इस प्रकार की नहीं कि मैं इस

प्रकार के बोझ और उत्तर-दायित्वपूर्ण कार्य को सहनकर सकूँ, तथापि परमात्मा की सहायता के विश्वास पर चलने का उद्योग किया जायगा।

ईश उपनिषद् वास्तव में यजुर्वेद की काण्वशाखा का चालीसवाँ अध्याय है। इसमें सब मन्त्र ज्ञान-काण्ड के हैं। जहाँ तक विचार पड़ता है, सब उपनिषदों का मूल यही उपनिषद् है। क्योंकि यह उपनिषद् वेद के अन्त में है। इसी कारण से इसका नाम वेदान्त रक्खा गया। और शेष उपनिषद भी इसी कारण वेदान्त कहे जाते हैं। और व्यासजी ने ब्रह्म-सूत्रों में भी इसी के विषय से ब्रह्म-सिद्धि को लिया। इसीलिए उसका नाम भी वेदान्त-शास्त्र हुआ। दूसरा कारण इनको वेदान्त कहने का यह भी है कि वेद नाम ज्ञान का है और ब्रह्म के जानने में बुद्धि से पूरा काम नहीं चलता। और ब्रह्म-ज्ञान, ज्ञान की सब से अन्तिम श्रेणी है। क्योंकि प्रकृति से जीव सूक्ष्म है और उसका ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं होता, परन्तु उसके कार्य और ज्ञान के प्रत्यक्ष होने से उसकी सत्ता का ज्ञान सर्व साधारण को हो सकता है। परन्तु ब्रह्म ऐसी सूक्ष्म वस्तु है कि जिसका ज्ञान भी इन्द्रियों से तो हो ही नहीं सकता, इस कारण से शब्द प्रमाण की आवश्यकता है। और आचार्य लोग वेद को सब से अधिक स्वतः प्रमाण मानते हैं। इसलिए इन वेद के ब्रह्म के विषय में मन्त्रों और उनकी व्याख्या का नाम वेदान्त हुआ।

स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती

ओ३म्

संपादक की भूमिका

(उपनिषत् शब्द का अर्थ)

श्रीशंकराचार्य जी ने उपनिषत् शब्द के सम्बन्ध में निम्न प्रकार लिखा है—

(सदेर्धातोविशरणगत्यवसादनार्थस्य—उप नि पूर्वस्य क्विप् प्रत्य-त यान्तस्य रूपम्—उपनिषत्—इति । उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासि-ग्रन्थ प्रतिपाद्यविषया विद्योच्यते) अर्थात्—षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु इस धातु से उप नि उपसर्ग पूर्वक उपनिषत् शब्द क्विप् प्रत्यय करके बनता है । और इस उपनिषत् शब्द का अर्थ ब्रह्मविद्या है परन्तु लक्षणा से ब्रह्मविद्या का उपदेश करनेवाले ग्रन्थों को भी उपनिषत् कहते हैं ।

ये मुमुक्षवो·····विद्यामुपसद्य उपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणात्—हिंसनाद विनाश-नात·····मुमुक्षून् वा परं ब्रह्म गमयति····· ··गर्भवासजन्मजराद्युप-द्रववृन्दस्य लोकान्तरे यौनःपुन्येन प्रवृत्तस्य—अवसादयितृत्वेन शैथिल्यापादनेन··· ···।

अर्थात् षद्धातु के तीन अर्थ हैं—

१—विशरण=नाश करना । २—गति=प्राप्ति । ३—अव-सादन=शिथिल करना । इसी प्रकार 'उप' का अर्थ है प्राप्त होकर और नि का अर्थ है निश्चय ।

जिस विद्या को प्राप्त करके निश्चय पूर्वक अविद्या का नाश, ब्रह्म की प्राप्ति और जरा जन्म आदि उपद्रव शिथिल होते हैं उस विद्या को उपनिषत् कहते हैं तथा उस विद्या का प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थों को भी उपनिषत् कहते हैं।

(उपनिषत् शब्द का प्रयोग)

उप तथा नि उपसर्ग पूर्वक सद् धातु का प्रयोग क्रिया रूप में बहुत स्थानों में आया है। यथा—

उपनिषससाद = ऐतरेय आरण्यक २। २। ३।

उपनिषसाद = जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ३। १। ३। ६—११।

उपनिषेदुः = जैमिनीय ब्राह्मण १४३, जै० उ० २। २। ४। ११।
षड्विंशब्राह्मण १। ४। ७।

उपन्यषीदन्=जै० ब्रा० ८५

ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में उपनिषत् शब्द का भी प्रयोग बहुत है। उपनिषदों में भी उपनिषत् शब्द का प्रयोग हुआ है। यथा—

"उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदम-ब्रूमेति" (केन)

वेदान्त शब्द का भी उपनिषत् अर्थ में प्रयोग है। यथा—

"वेदान्तविज्ञान सुनिश्चितार्थाः" (मुण्डक)

यहाँ वेदान्त शब्द का अर्थ उपनिषत् है। तैत्तिरीय और छान्दोग्य आदि उपनिषदों में आसुर उपनिषत् और वेदोपनिषत् रूप से भी उपनिषत् शब्द का प्रयोग है। (देखो तैत्तिरीय १। ११॥ छान्दोग्य ८। ८। ५॥)

उपनिषदों का बहुत सा भाग महाभारत के बाद का भी है जैसा कि छान्दोग्य उपनिषत् 'तद्धैतद् घोर आङ्गिरस कृष्णाय देवकीपुत्राय' ३। १७। ६॥ में देवकी पुत्र कृष्ण का नाम आया है। उपनिषदों की संख्या ढाई सौ तक पहुँची है और अल्लोपनिषत् जैसी उपनिषत् तक का जन्म हुआ। जो यवन की सी कृति है।

(प्रामाणिक उपनिषदें)

महर्षि दयानन्द सरस्वतीजी ने 'ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक,' इन दस उपनिषदों को प्रमाण माना है। इन्हीं दस उपनिषदों पर श्रीशंकराचार्यजी ने भाष्य किया है। दूसरी श्रेणी की उपनिषदें 'श्वेताश्वेतर, कौषीतकी ब्राह्मण और मैत्री उपनिषत् हैं। बहुत-सी उपनिषदें तो संप्रदाय की धुन में ही लिखी गई हैं। उन प्रामाणिक उपनिषदों में भी कुछ बातें ऐसी हैं जिन्हें हम वैदिक आदर्श से गिरा हुआ कह सकते हैं जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् (५। १४। ७) में लिखा हुआ अभिचारकर्म किसी वैदिक को मान्य नहीं हो सकता। वेद के अतिरिक्त समस्त वैदिक साहित्य में प्रक्षेप हुए हैं। गीता उपनिषत् दर्शन ब्राह्मण ग्रन्थ आदि सारा साहित्य प्रक्षेप से मिश्रित है। आर्य विद्वानों का साहस और परिश्रम अभी इतना नहीं है कि वे अपने मान्य सब ग्रन्थों की स्पष्ट मीमांसा कर सकें। मेरे मित्र पं० उदयवीरजी शास्त्री ने सांख्यदर्शन में प्रक्षेप के सम्बन्ध में पाण्डित्यपूर्ण बहुत कुछ लिखा है। बाली द्वीप में प्राप्त गीता में भी ७० ही श्लोक हैं। उपनिषत्, गीता, दर्शन, ब्राह्मण ग्रंथ, श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, आदिकों के असली मूलग्रन्थों का संपादन और उन पर प्रामाणिक भाष्यों के बनने का कार्य अभी आरम्भ भी नहीं हुआ है। इसका एकमात्र कारण आर्य जनता का आर्य विद्वानों को सहयोग न देना ही है। इधर-उधर की किताबों से बातें संग्रह करके वृथा पुष्ट बहुत ग्रन्थों के बनाने और खेंचतान करके सब ग्रन्थों पर टीका लिख मारने से मूर्ख जनता में चाहे महापण्डित मनुष्य कहलावे पर विद्वानों की दृष्टि में हास्य का ही पात्र मनुष्य बनता है। हमें कभी इस बात पर विचार करना चाहिये कि हमारे समाज में हज़ारों ग्रन्थों का निर्माण हुआ है उनमें से कितने ग्रन्थों का प्रभाव संसार के विद्वानों पर हुआ है।

स्वामी दर्शनानन्दजी की विशिष्टता

संभवतः कोई ही पण्डित शेष रहा होगा, जिसने उपनिषदों पर टीका न लिखी हो या लिखने का विचार न कर रहा हो परन्तु हमारी

दृष्टि में दो एक ही व्यक्ति आये हैं जिनकी टीका का कोई महत्त्व हो सकता है। जिस प्रकार श्री पूज्य नारायण स्वामी जी महाराज का प्रत्येक ग्रन्थ की टीका लिखने में स्पष्टीकरण उनकी अपनी विशेषताहै उसी प्रकार श्रीपूज्य स्वामी दर्शनानन्दजी की तर्कणाशक्ति उनकी अपनी विशेषता है। स्वामी दर्शनानन्दजीकृत उपनिषदें की टीका देखकर कभी कभी ऐसा प्रतीत होता है कि जो उपनिषदें ऋषि कृत हैं उनकी स्वामीजीकृत टीका भी उसी योग्यता की है अर्थात जिस प्रकार ऋषियों ने तर्क आदि द्वारा विषय को सिद्ध किया है। उनकी टीका लिखते हुए स्वामी दर्शनानन्दजी कुछ बातें अपनी ओर से अधिक लिखते हैं वे बातें भी उसी योग्यता की प्रतीत होती हैं। कठ उपनिषत के यम और नचिकेता के वर्णन में अच्छा प्रकाश स्वामी जी ने डाला है तथा (देखो मुंडक १। २। १२ ॥) प्रायः सारा ही उपनिषत्प्रकाश ऐसी बातों से भरा हुआ है। आर्य समाज के पहले के विद्वानों का यह स्वभाव था कि यदि ऋषि दयानन्द जी ने यजुर्वेद और ऋग्वेद का भाष्य कर दिया तो इन्हीं दो पर वेदभाष्य करने को कोई नहीं अड़ता था पं० क्षेमकरण दासजी त्रिवेदी ने अथर्ववेद पर भाष्य किया और पं० तुलसीराम जी ने सामवेद पर भाष्य किया। शिवशंकरजी काव्यतीर्थ ने ऋग्वेद पर भाष्य वहाँ से आरम्भ किया जहाँ से ऋषि दयानन्द का छुटा हुआ था। पं० भीमसेन जी ने आठ उपनिषदों पर भाष्य किया उसके अनन्तर शेष दो पर ही पं० शिवशंकरजी ने भाष्य किया। मैं तो विद्वानों से यही प्रार्थना करूँगा कि अब गीता उपनिषद आदि पर बहुत भाष्य हो चुके हैं वैदिक साहित्य में सहस्रशः ग्रन्थ पड़े हैं जिन का अनुवाद किसी ने नहीं किया। उन ग्रन्थों को भी अनुवाद करके पठन पाठन में लाओ। इससे अधिक कल्याण होगा। हाँ यह अवश्य है कि जिन ग्रन्थों पर बहुत से लोगों ने टीका लिखी है उन पर ही टीका लिखने से आप बिना परिश्रम भाष्यकार बन जावेंगे और जिन ग्रन्थों पर किसी ने अभी तक टीका नहीं लिखी है उन पर टीका लिखने में आपको कुछ परिश्रम भी करना पड़ेगा। परन्तु विद्वत्समाज में आपका स्थान ऐसा ही करने से बनेगा क्योंकि पिष्टपेषण भी दोष संसार में अभी समझा ही जाता है। या स्वामी दर्शनानन्द जी के

समान योग्यता हो कि चाहे अन्यों ने उस ग्रन्थ की टीका पूर्व की भी हो पर इस नवीन टीका को देखकर योग्य से योग्य व्यक्ति मुग्ध हो जावे। अन्य स्थानों पर लिखी हुई बातों को किसी ग्रन्थ की टीका में भर देने से नवीन साहित्य की वृद्धि नहीं हो जाती है। भाष्यकार वही है जो उस ग्रन्थ के रहस्य को खोले या मूल पुस्तक के शब्दों से बात को पुष्ट करे स्वामी दर्शनानन्द जी के भाष्य में सर्वत्र यही प्रवाह मिलेगा। महर्षि स्वामी दयानन्द जी सरस्वती ने समस्त साहित्य पढ़कर तथा अपनी आर्ष प्रतिभा से सिद्धान्त निश्चित किये हैं। उनकी यह अटल धारणा थी कि ऋषियों में मतभेद सिद्धान्तों में कहीं नहीं है। वैदिक साहित्य में वर्णन करने की शैली भिन्न भिन्न प्रकार की है जिससे श्रद्धाहीन व्यक्ति बहक सकता है। ऐसे स्थलों की व्याख्या स्वा० दर्शनानन्द जी ने बड़ी योग्यता से की है, जैसे देखो मुंडक उपनिषत् का प्रारम्भ 'ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव, इत्यादि की व्याख्या। ऐसे स्थलों की टीका लिखते हुए बहुत व्यक्ति सिद्धान्तभ्रष्ट हो जाते हैं और वे पण्डित यह समझते हैं कि हम बहुत बड़े सत्यवक्ता हैं पर वे यह नहीं विचारते कि अन्य ऋषियो से या इस ही ग्रन्थ के अन्य स्थलों से जो विरोध हो जावेगा उसका भी उत्तर-दायित्व तुम पर कुछ है या नहीं। हर एक ग्रन्थ का अर्थ भी अमरकोष से ही नहीं हो जाता है। प्रत्येक साहित्य की अपनी शैली तथा शब्दों की प्रवृत्ति भिन्न प्रकार की होती है। मुंडक उपनिषत् के 'तपसा चीयते ब्रह्म' यहाँ तप का ज्ञान ही अर्थ ठीक है जैसा आगे ही लिखा है कि "यस्य ज्ञानमयं तपः" देखो मुंडक १।१।८,९।

स्वामी दर्शनानन्दजी ने उपनिषद में परस्पर विरोध न हो तथा अन्य आर्ष ग्रन्थों द्वारा प्रतिपादित वैदिक सिद्धान्तों में मतभेद न हो इस बात को दृष्टि में रखकर उपनिषदों के शब्दों के अर्थ किये हैं। संस्कृत के विद्वानों को भी एक बार उपनिषत्प्रकाश अवश्य पढ़ना चाहिये। संस्कृत के पण्डितों में प्रायः यह स्वभाव होता है कि वे हिन्दी की टीका नहीं देखते। मैंने स्वयं पहले कभी उपनिषत्-प्रकाश को नहीं पढ़ा था। मुझे आरम्भ से ही संस्कृत पढ़ाई गई थी। मैं हिन्दी भाषा केवल इसलिये जानता हूँ कि हिन्दी बोलनेवालों में रहता था अतः वह दोष

मेरे अन्दर भी था। प्रिय सत्यदेव ने उपनिषत्प्रकाश के संपादन का भार मुझ पर डालकर मेरा उपकार ही किया है। जो इसके पढ़ने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ।

(पिछले संस्करणों में असावधानियाँ)

उपनिषत्प्रकाश के हिन्दी संस्करण कई निकल चुके हैं। अनेक प्रकाशकों ने इसे छापा है पर प्रत्येक संस्करण अशुद्धियों से भरा हुआ है। मैंने इस बात का यत्न किया है कि यह संस्करण पिछले सब संस्करणों से परिमार्जित निकले। मेरे पास यदि उर्दू का संस्करण होता तो मैं अधिक सफल होता। मुझे मास्टर अवधबिहारीलालजी के अनुवाद पर ही आश्रित होना पड़ा है। इसके अतिरिक्त यह भी असुविधा थी कि प्रेस का प्रबन्ध लखनऊ में हुआ और मेरा निवास बरेली था और इसके मुद्रणकाल में भी सारे भारत में प्रचारार्थ यात्रा भी करता रहा और इसका संपादन कार्य भी चलता रहा। तथापि पाठकों को थोड़ा-सा दिग्दर्शन कराना चाहता हूँ कि मैंने इस संस्करण को किस प्रकार शुद्ध किया है। उपनिषत्प्रकाश के छापने में स्वामी दर्शनानन्दजी के साथ प्रकाशकों ने बहुत अन्याय अब तक किया है। कहीं पदार्थ में अर्थ विद्यमान है पर मूल शब्द छूटा है जैसे 'यथा सुदीप्तात्' मुण्डक १२। १। १। में पदार्थ में 'सुदीप्तात्' शब्द छूटा है पर उसका अर्थ 'भली प्रकार जलती हुई' यह पदार्थ में विद्यमान है इस प्रकार के स्थल हमने पूर्ण कर दिये और कहीं-कहीं तो पदार्थ में शब्द और दोनों ही छूटे हैं जैसे मुण्डक १। २। १३। में 'शमान्विताय' यह शब्द भी पदार्थ में नहीं है और न इसका अर्थ ही वहाँ है। इसको हमने भावार्थ के आश्रय से ठीक कर दिया है। पर ये सब संशोधन हमने डरते डरते कुछ किये हैं और इस बात की प्रतीक्षा में हूँ कि पाठक तथा पण्डितवर्ग हमें किस दृष्टि से देखेगा। इस प्रतीक्षा के बाद द्वितीय संस्करण पूर्ण शुद्ध निकालेंगे यदि आर्यजगत का प्रोत्साहन हमें मिलेगा। कहीं-कहीं समस्त पदों को तोड़ तोड़ कर अर्थ छापा हुआ था, विभक्ति की भी दुर्दशा थी उसे हमने एकत्र करने का यत्न किया

है (देखो मुण्डक २ । २ । ७ ॥) 'प्राण शरीर नेता' की व्याख्या । जिन व्यक्तियों ने आरम्भ से अँगरेज़ी पढ़ी होती है, बाद में यदि वे संस्कृत पढ़ भी लेवें तब भी संस्कृत के शब्दों पर उन लोगों को अभ्यास नहीं होता है । वे प्रायः संस्कृत के शब्दों का गला घोटते हैं । ऐसे ही व्यक्तियों द्वारा उपनिषत्प्रकाश के संस्करण निकले थे । इसमें उपरोक्त शब्द का बहुत प्रयोग है जो वास्तव में उपर्युक्त लिखा जाना चाहिये । इस प्रकार के सैकड़ों शब्द हमने ठीक किये हैं । पर जो अशुद्ध शब्द हिन्दी भाषा में अशुद्ध लिखते-लिखते शुद्ध मान लिये गये हैं उन्हें हमने छोड़ दिया है जैसे 'आधीन' आदि शब्द जो वास्तव में शुद्ध शब्द 'अधीन' है ।

स्वामी दर्शनानन्दजी ने स्वामी शंकराचार्यजी के भाष्य को अच्छी तरह देखा था और जहाँ सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है । वैसे साधारण प्रकरणों में बहुत स्थानों पर दोनों में समानता भी है जैसे (देखो कठ उपनिषद् १ । १ । ७ ।) में 'त्रिणाचि केतः' इत्यादि की व्याख्या स्वा० शंकराचार्य की तथा स्वामी दर्शनानन्दजी की । इसी शैली को दृष्टि में रखते हुए हमने मुण्डक २ । १ । ७ में 'शरीर के दर्शन के लिये' इसके स्थान पर 'शरीर के संस्कार के लिये' कर दिया है ।

मुद्रण के कार्य में दूर रहकर विसर्ग और परसवर्ण को समझाना मेरे लिये कठिन था अतः वह ह्रन्तव्य है । यथाशक्ति इसे भी ठीक किया है । प्रूफ़ देखने का कार्य सत्यदेवजी ने ही किया है जो कि परिश्रम से किया है । कहीं-कहीं प्रेस कापी के बनाने में हमें अपनी बुद्धि पर ही अवलम्बित होकर कार्य करना पड़ा है पर पूर्ण देख-भाल कर हमने संशोधन किया है । जैसे मुण्डक २ । १ । ४ । में "हृदयम् = दोहे के स्थान में" यहाँ "हृदय के स्थान में" कर दिया है ।

मुंडक १ । १ । ८ । में 'अन्नम् = प्रकाश रूप अग्नि' के स्थान में 'आकाश रूप अग्नि कर दिया है । तथा मुंडक २।२।२। में लोकिनः = जो मनुष्यों में रहनेवाले मनुष्य पशु इत्यादि' यह पाठ था यहाँ हमने "मनुष्यों" के स्थान में "लोकों" कर दिया है । मुंडक २।२।२ में

"वोद्धव्यम्=मन से जानने योग्य" के स्थान में "वोद्धव्यम्=मन से ताड़ने योग्य" कर दिया है। परन्तु जहाँ शब्द और अर्थ दोनों छुटे हैं और किसी प्रकार भी भावार्थ आदि से सहायता नहीं मिलती है वहाँ हमने मौन ही धारण किया है। हमारा यह दावा नहीं है कि हमने सब बदलकर ठीक कर दिया है पर जो कुछ हमने शोधा है उसका उत्तरदायित्व हम पर अवश्य है।

वैदिक सम्पत्ति और उपनिषत्

वैदिक सम्पत्ति के लेखक पं० रघुनन्दन शर्मा ने पृष्ठ ४६६ से लेकर विस्तार के साथ उग्रतापूर्ण विवेचना उपनिषदों के सम्बन्ध में लिखी है। उनका ऐसा मत है कि उपनिषदों में अवैदिक लोगों द्वारा बहुत मिश्रण हुआ है। वे लोग ऐसी रचनाओं को भी ऋचा कहते है जो वेद के वाक्य नहीं हैं। ऋचा शब्द वैदिकों ने केवल वेद मन्त्रों के लिये प्रयोग किया है पर प्रामाणिक उपनिषदों में भी इससे उलटा व्यवहार देखने में आता है। इन उपनिषदों में आसुर उपनिषदों की बातों का भी वर्णन है तथा असत् पहले था या नहीं इत्यादि सन्देहपूर्ण परस्पर विरुद्ध बाते भी लिखी हैं। काण्वशाखा में भी 'पूषन्नेकर्षे' इत्यादि पाठ बाहर का मिला हुआ है इत्यादि पाठकगण रघुनन्दन शर्मा के विचार वैदिक सम्पत्ति द्वारा ही देखें।

इस बात को मैं भी अनुचित समझता हूँ कि उपनिषदों की टीका लिखते हुए कुछ व्यक्तियों ने वेद और शाखा का संमिश्रण कर दिया है। वास्तविक बात यह है कि उपनिषदों का वर्तमान स्वरूप हमारे लिये वही हो गया जिन पर श्रीशंकराचार्य जी ने भाष्य किया। सुरेश्वराचार्य (मंडन मिश्र) के प्रभाव के कारण शंकराचार्य ने काण्वशाखा की ईश और बृहदारण्यक उपनिषत् का प्रचार किया था क्योंकि सुरेश्वराचार्य की काण्वशाखा थी। इस बात का अनुकरण करना आर्यविद्वानों के लिये आवश्यक नहीं है। शंकराचार्य के भाष्य से पूर्व बृहदारण्यक उपनिषत् पर भर्तृ प्रपंच का जो भाष्य था वह माध्यन्दिन शाखा के शतपथ ब्राह्मण के अन्तर्गत बृहदारण्यक उपनिषत् पर

था। इसी अभिप्राय से पं० भीमसेन जी ने ईशोनिषद का भाष्य करते हुए मूल पाठ यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय रखा है क्योंकि प्रचलित उपनिषत् यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय नहीं है प्रत्युत काण्वशाखा का चालीसवाँ अध्याय है। प्रत्येक उपनिषत् के पूर्व उपनिषत्परिचय में हमने उस उपनिषत् के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातें लिख दी हैं। या तो यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय को उपनिषत् मानकर भाष्य करना चाहिये जैसे पं० भीमसेन जी ने किया या काण्वशाखा के चालीसवें अध्याय को उपनिषत मानकर उस पर भाष्य करना चाहिये जैसा स्वा० दर्शनानन्दजी ने किया पर दोनों को मिलाकर एक नया मूल पाठ बनाकर भाष्य करना उचित नहीं है।

स्वामी दर्शनानन्द जी ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक माण्डूक्य इन छै उपनिषदों पर ही भाष्य किया है यदि स्वामी दर्शनानन्द जी अन्य उपनिषनों पर भी भाष्य करजाते तो उपनिषदें बहुत स्पष्ट हो जातीं।

एक आवश्यक निवेदन

एक बार आर्यसमाज कानपुर के वार्षिक उत्सव पर मैं गया वहाँ एक सनातनधर्मी पण्डित मेरे पास आये उनके हाथ में आर्यविद्वानों द्वारा किये हुए उपनिषदों के सब भाष्य थे और सत्यार्थ प्रकाश भी। एक स्थल दिखाकर वे कहने लगे कि अमुक उपनिषद के इस स्थल का अर्थ स्वामी दयानन्दजी ने इस प्रकार किया है तथा आर्य पण्डितों ने इस प्रकार किया है और इनका भी परस्पर किसी का मिलता नहीं है। मैं इस बात का कुछ भी उत्तर न दे सका स्वामी दर्शनानन्दजी यदि उस उपनिषत् पर भाष्य करते तो संभव है वे इस बात पर विचार करते। वस्तुतः हमारा कर्तव्य है कि यदि हम उपनिषदों की टीका लिखने बैठें तो हमें इस बात पर अवश्य विचार करना चाहिये कि उपनिषदों के जिन जिन प्रकरणों के अर्थ ऋषि दयानन्द ने किये हैं, उनको पहले देख लें। और यह रीति प्रत्येक ग्रन्थ के भाष्य करने में ध्यान देने योग्य है। इसके लिये आवश्यक है कि ऋषि दयानन्द के लिखे सारे साहित्य में वर्णित ग्रन्थों के प्रमाणों की एक तालिका

तैयार हो। जब कभी कोई आर्य विद्वान् किसी ग्रन्थ पर भाष्य करना चाहे उसका कर्तव्य है कि उस ग्रन्थ के जितने प्रमाणों के अर्थ ऋषि दयानन्द ने किये हैं वे अर्थ ही उस स्थान पर आवें तो अधिक शोभा है। दो तीन वर्ष से इस तालिका का निर्माण मैं कर रहा हूँ और यह ग्रन्थ शीघ्र प्रकाशित होगा। महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों में दिये गये प्रमाणों के पते आदि के सम्बन्ध में किसी आर्य विद्वान् के पास जो सामग्री हो वह मुझे भेजदेवे। उन विद्वानों की परिषत् द्वारा ही वह 'दयानन्द प्रमाण प्रकाश' नाम का वृहद् ग्रन्थ प्रकाशित किया जायगा। इस तालिका के बनने के बाद प्रत्येक वैदिक ग्रन्थ पर भाष्य किये जावें और तब ही ऋषि दयानन्द के वेदभाष्य पर महाभाष्य की रचना हो। इससे पूर्व जो भी कार्य होगा उसमें ऋषि की बातों से विरोध कहीं न कहीं आ ही जावेगा। यह मेरी निश्चित धारणा है। मैं नहीं चाहता कि आर्यजगत में किये हुए भाष्यों की ऋषि के साथ विरोध की मीमांसा करूँ। अस्तु

इस प्रकरण को समाप्त करते हुए अन्त में हम अब तक बने समस्त उपनिषद् ग्रन्थों की एक बृहत् सूची अकारादि क्रम से देते हैं। प्रत्येक उपनिषद् का शाखा सम्प्रदायादि सम्बन्ध भी जो प्रचलित है दिखा दिया गया है। पाठकों के लिये यह सूची मनोरंजक होगी कि सत्य उपनिषदों के बाद संसार में कितनी उपनिषदों का निर्माण हो चुका है। इन शब्दों के साथ इस भूमिका को समाप्त करते हुए आर्यसमाज के विधाताओं और विद्वानों से प्रार्थना करूंगा कि वे विचार करें कि ऋषिवर ने जितने उपनिषदादि ग्रन्थों के प्रमाणों के जो अर्थ किये उनका कितना स्पष्टीकरण उन्होंने किया है और कितना अनुसरण उसका उन्होंने किया है।

वेदमन्दिर
९९ बाजार मोतीलाल
बरेली यू० पी०

आचार्य विश्वश्रवाः
वैदिक रिसर्चस्कालर

ओ३म्

उपनिषत् परिचय

उपनिषद् स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। जिस प्रकार भगवद्गीता महाभारत का एक भाग है इसी प्रकार उपनिषद् भी वेदों, वेदों की शाखाओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों या आरण्यकों के विशेष भाग ही हैं। यह ईशोपनिषद् यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय नहीं है प्रत्युत यजुर्वेद की काण्वशाखा का चालीसवाँ अध्याय है। स्वामी शंकराचार्य के काल में मूल वेद तथा उसकी शाखाओं में विवेक नहीं किया जाता था। स्वामी शंकराचार्य की दृष्टि में काण्वशाखा भी मूल यजुर्वेद ही था। अतः उन्होंने काण्व-शाखा के ही चालीसवें अध्याय को उपनिषद् के रूप में प्रचलित कर दिया। वास्तव में मूल यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय को ईशोपनिषत् के नाम से प्रचलित करना चाहिये था। सब उपनिषदों को मूलभूत ईशोपनिषत् है इसकी ही विशेष व्याख्या अन्य उपनिषद् हैं। यह श्रेय काण्व शाखा को न देकर सर्व विद्याकर मूल वेद को ही देना चाहिये था। किन्तु स्वामी शंकराचार्य की डाली हुई परम्परा को तोड़ने का साहस किसी को नहीं होता है। इस उपनिषत् को ईशोपनिषत् ईशावा-स्योपनिषत् वाजसनेयोपनिषत् आदि नामों से पुकारते हैं।

मूल यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय तथा काण्व शाखा के चालीसवें अध्याय में भेद

यजुर्वेद का मन्त्रांक	यजुर्वेद का पाठ	काण्व शाखा या उपनिषत् का पाठ	काण्वशाख या उपनिषत् का मान्त्रांक
३	प्रेत्यापिगच्छन्ति	प्रेत्याभिगच्छन्ति	३
६	न विचिकित्सति	न विजुगुप्सते	६
१३	अन्यदेवाहुर्विद्याया ऽ अन्यदाहुरविद्यायाः	अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया	१०
१७	हिरण्मयेन……योऽसावादित्ये पुरुषः सो ऽ सावहम् ओम् खं ब्रह्म ।	हिरण्मयेन…… तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये ।	१५
१५	ॐ क्रतो स्मर । क्लिबे स्मर । कृतꣳ स्मर ।	ॐ क्रतोस्मर कृतꣳस्मर । क्रतो स्मर । कृतꣳस्मर	१७
	* यह मन्त्र मूल यजुर्वेद में नहीं है ।	* पूषन्नेकर्षे…… पुरुषस्सोऽहमस्मि यह मन्त्र काण्व शाखा में अधिक है ।	१६

— आचार्य विश्वश्रवा बरेली

मुण्डकोपनिषत्-परिचय

प्राचीनकाल में चारों वेदों की व्याख्या में अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे। ऋग्वेद की २१ (इक्कीस) शाखायें, यजुर्वेद की (एक सौ एक) १०१ शाखायें, सामवेद की (एक सहस्र) १००० शाखायें और अथर्व की (नौ) ९ शाखायें प्रचलित हुईं। इन सब शाखाओं में मूलवेद भी संमिलित हैं अर्थात् चार मूलवेद तथा (ग्यारह सौ सत्ताईस) ११२७ शाखायें प्रचार को प्राप्त हुईं। इन सब वेदों और शाखाओं के ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यकग्रन्थ, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र आदि अनेक ग्रन्थ बने। और उपनिषदों का भी प्रचार हुआ। यह प्रस्तुत उपनिषत् मन्त्र भाग से सम्बन्ध रखती है और यह उपनिषत् अथर्ववेदीय है।

आचार्य विश्वश्रवा बरेली

* ओ३म् *

मुण्डकोपनिषद्

का

हिन्दी अनुवाद

—:०:—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या-प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥ १ ॥

(शब्दार्थ) (ब्रह्मा) चारों वेदों का ज्ञाता धर्म्म, ज्ञान और वैराग्य से युक्त । (देवानां) विद्वानों में । (प्रथमः) प्रथम । (सम्बभूव) भद्र किया पैदा हुआ । (विश्वस्य) जगत् में धर्म के । (कर्ता) करनेवाले अर्थात् प्रत्येक वर्णाश्रम के नियम बनाने वाले । (भुवनस्यगोप्ता) सर्व प्राणियों को रक्षा का उपदेश दाता । (सः) उसने । (ब्रह्मविद्यां) ब्रह्मविद्या को । (सर्वविद्याप्रतिष्ठाम्) सर्व विद्याओं के ठहरने के स्थान । (अथर्वाय) अथर्व को । (ज्येष्ठपुत्राय) जो उनका बड़ा बेटा था । (प्राह) उपदेश किया ।

(अर्थ) ब्रह्मा सर्व विद्वानों में प्रथम कहलाता है अर्थात् ऋषियों से बड़ी पदवी ब्रह्मा की है, क्योंकि चारों वेदों के जानने से ब्रह्मा कहलाता है, जैसा कि गायत्री उपनिषद् में लिखा है कि वेदों से ब्रह्मा होता है । जो प्रथम ब्रह्मा हुआ उसने संसार के अर्थ वर्णाश्रम के विभाग के अनुकूल नियम बनाये और उन

नियमों के द्वारा प्रत्येक प्राणी की रक्षा की। उसने सब से ज्येष्ठ पुत्र अथर्व नामी को ब्रह्म विद्या का उपदेश किया।

प्रश्न—यह क्यों न माना जावे, सब से प्रथम ब्रह्मा उत्पन्न हुआ। ब्रह्मा पदवी सब से प्रथम् क्यों स्वीकार की जावै।

उत्तर—शतपथ, गोपथ और ऐतरेय ब्राह्मण में अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा को परमात्मा का वेद उपदेश करना लिखा है और गायत्री उपनिषद् में ब्रह्मा का वेदों से बनाना लिखा है, जिससे स्पष्ट है कि ब्रह्मा से पूर्व वेद, अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा के द्वारा प्रकाशित हुए और उन ऋषियों से ब्रह्मा ने पढ़े और चारों वेदों के जानने से सब से बड़ा अर्थात् प्रथम कहलाया।

प्रश्न—ब्रह्मविद्या का अथर्व से सम्बन्ध क्यों बताया ?

उत्तर—ऋग, यजुः, साम वेद तो यज्ञ के अर्थ हैं और ब्रह्म-विद्या के अर्थ अथर्व ही काम आता है।

प्रश्न—ब्रह्म को जगत् का कर्ता क्यों न स्वीकार किया जावै जैसा कि शब्दार्थ से प्रकट होता है।

उत्तर—ब्रह्मा का संसार में जन्म हुआ, इसलिये संसार में सम्मिलित है। इस कारण वह जगत कर्ता नहीं हो सकता।

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवाचांगिरे ब्रह्मविद्याम्। स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽंगिरसे परावराम् ॥ २ ॥

(शब्दार्थ) (अथर्वणे) अथर्वण शिष्य को। यां (जिस) ब्रह्म विद्या को। (प्रवदेत) बताया था। (ब्रह्मा) ब्रह्मा ने। (अथर्वा) अथर्वा ने। (ताम्) उस ब्रह्म-विद्या को। (अङ्गिरे) अङ्गी शिष्य को पढ़ाया। (पुरोवाच) अन्य शिष्यों को भी उपदेश किया। (स) उस अङ्गी ने। (भारद्वाजाय) भारद्वाज ऋषि के गोत्रवाले। (सत्यवाहाय) सत्याह शिष्य

को । (प्राह) उपदेश किया । (भारद्वाजो) उस भरद्वाज ने (अंगिरिसे) अंगिरा शिष्य को । (परावराम्) दूसरों से प्राप्त की हुई ब्रह्म विद्या को पढ़ाया ।

(अर्थ) अथर्ववेद से ग्रहण की हुई मुण्डकोपनिषद् नामी ब्रह्मविद्या जो ब्रह्मा ने अथर्व को पढ़ाई थी अब उस क्रम को बताते हैं कि अथर्व ने उसको अंगी नाम अपने शिष्य को पढ़ाया और अंगी ने भरद्वाज गोत्र में उत्पन्न हुए सत्यवाह ऋषि को पढ़ाया। उसने अंगिरस नामी ऋषि को दूसरे गुरुओं से प्राप्त की हुई ब्रह्मविद्या को पढ़ाया। इस इतिहास से ब्रह्मविद्या का आदि काल से होना सिद्ध होता है और वर्तमान काल के यूरूप-वासी मनुष्य आरम्भ में अविद्या को स्वीकार कर बैठे हैं। इन दोनों में से कौन सत्य है ? इसके विषय में किसी युक्ति की आवश्कता नहीं; जिसकी साक्षी ईश्वरीय नियम के अनुकूल है। ईश्वर ने प्रथम सूर्य का पूर्ण प्रकाश उत्पन्न किया, जब वह पूर्ण प्रकाश सायंकाल को छिप गया, तब मनुष्यों ने दीपक जलाये। इससे स्पष्ट है कि पूर्ण प्रकाश पहले उत्पन्न हुआ, अपूर्ण पश्चात्। अतः परमात्मा ने पूर्ण वेदों की शिक्षा प्रथम दी, पश्चात् अन्य प्रकार की अपूर्ण शिक्षा आरम्भ हुई।

शौनकोह वै महाशालोऽंगिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ । कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥ ३ ॥

(शब्दार्थ) (शौनकः) शौनक ऋषि की संतान । (ह वै) निश्चय करके । (महाशालः) जिसके भवन बहुत बड़े थे। (विधिवत्) शास्त्र नियमानुकूल । (उपसन्नः) पास जाकर । (पप्रच्छ) प्रश्न किया । (कस्मिन नु) किस हेतु । (भगवो) हे ज्ञाता गुरु । (विज्ञाते) जान लेने से । (इदं सर्वम्) यह

सब। (विज्ञातं) ठीक प्रकार जाना हुआ। (भवति) होता है। (इति) यह बताओ।

(अर्थ) शौनक ऋषि ने जो बहुत बड़े महल रखता था, अंगिरस के समीप शास्त्र-नियमानुकूल जाकर प्रश्न किया कि हे गुरू महाराज ! किस एक के जानने से यह सब जाना जायगा तात्पर्य यह है किसके जानने से मुझे किसी अन्य के जानने की आवश्यकता न रहेगी अथवा कोई अन्तिम जानने योग्य वस्तु है, जिसके जानने के पश्चात् सब जाना हुआ होगा, किसी के जानने की आवश्यकता न रहेगी अर्थात् यह प्रश्न ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में है। क्योंकि और ऐसी कोई वस्तु नहीं जो ब्रह्म की भाँति सब से महान् और सब से सूक्ष्म, सब से अधिक आवश्यकीय, आनन्ददायक तथा ज्ञानदाता हो। इसके उत्तर में ऋषि कहते हैं।

तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्य इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवा परा च ॥ ४ ॥

(शब्दार्थ) (तस्मै) इस शौनक को। (स) वह अंगिरा। (होवाच) यह कहने लगे। (द्वे विद्ये) दो विद्या हैं। (वेदितव्ये) जानने योग्य है। (ह स्म) पुराने इतिहास को स्मरणार्थ कहते हैं। (यत्) जो। (ब्रह्मविदः) वेद के ज्ञाता विद्वान् लोग। (वदन्ति) कहते हैं। (परा) जो परमात्मा के जानने का मुख्य साधन। (अपरा च) जिससे जगत् में धर्म, कर्म और सब पदार्थों का ठीक ज्ञान हो।

(अर्थ) अङ्गिरा ऋषि ने शौनक को उपदेश किया कि इस जगत में जानने योग्य दो प्रकार की विद्या हैं। जिसमें से एक का नाम परा विद्या है, जिससे सब सूक्ष्म और व्यापक परमात्मा का ज्ञान होता है। दूसरी अपरा जिससे संसारिक धर्म, कर्म और प्राकृतिक पदार्थों का ज्ञान होता है। आगे इसकी व्याख्या करते हैं।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं। निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ ५॥

(शब्दार्थ) (तत्र) उन दोनों विद्याओं में। (अपरा) अपरा विद्या यह है। (ऋग्वेदः) ऋग्वेद। (यजुर्वेदः) यजुर्वेद। (सामवेदः) सामवेद। (अथर्ववेदः) अथर्ववेद। (शिक्षा) शिक्षा वेदांग। (कल्पः) कल्प वेद का दूसरा अंग। (व्याकरणं) व्याकरण वेद का तृतीयांग। (निरुक्तं) निरुक्त वेद का चतुर्थांग। (छन्दः) छन्द वेद का पंचमांग। (ज्योतिषं) ज्योतिष वेद का षष्टमांग। (इति) यह वेद और वेदांग अपरा विद्या हैं। (अथ) इसके पश्चात्। (परा) पर वह विद्या। (यया) जिससे। (तदक्षरम्) वह ब्रह्म। (अधिगम्यते) जाना जाता है।

(अर्थ) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद के षष्टांग अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष यह सब अपरा विद्या में सम्मिलित हैं। और परा उस विद्या को कहते हैं जिससे केवल वह नाश रहित ब्रह्म जाना जाता है।

प्रश्न—क्या वेदों से ब्रह्म नहीं जाना जाता।

उत्तर—वेदों में ब्रह्म का ज्ञान है, परन्तु जब तक वेद को सुनकर उसका मनन युक्ति पूर्वक न किया जावे, और उसमें कहे हुए को मन में स्थित न किया जावे, तब तक ब्रह्म का साक्षात् ज्ञान नहीं होता। इस कारण वेद के अर्थ सहित सुनने का नाम अपरा विद्या है और जो मनुष्य मनन करके निधिध्यासन के द्वारा साक्षात् करते हैं, उनको जो ज्ञान होता है, वह परा विद्या है।

प्रश्न—बहुत से वेदों को अपरा विद्या और उपनिषदों को परा विद्या के नाम से पुकारते हैं।

उत्तर—उसमें कोई हानि की बात नहीं क्योंकि उपनिषद् में भी वेद के साक्षात् करने वाले ऋषियों के उपदेश हैं, जो वेदों के व्याख्यान होने से वेद ही के ज्ञान से उत्पन्न हुए हैं।

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादम्। नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥६॥

(शब्दार्थ) (यत्) जो। (तत्) वह। (अद्रेश्यम्) जो ज्ञानेन्द्रिय से अनुभव नहीं होता। (अग्राह्यम्) जिसको कोई पकड़ नहीं सकता। (अगोत्रम्) जिसका कोई गोत्र नहीं। (अवर्णम्) जिसका ब्राह्मणादि वर्ण नहीं है। (अचक्षुः श्रोत्रम्) जिसके नेत्र कान नहीं। (अपाणिपादम्) जिसके हाथ पाँव नहीं। (नित्यं) जो नित्य है। (विभुं) व्यापक है। (सर्वगतम्) सब के हाल को जानता। (सुसूक्ष्मं) जो अत्यन्त सूक्ष्म। (तद्) वह। (अव्ययं) नाश और त्रुटि रहित। (यद्) जो। (भूत योनिम्) सम्पूर्ण जगत की जड़ चेतन्य सृष्टि का कारण है। (परिपश्यन्ति) जो उस सर्व व्यापक को ध्यान से देखते हैं। (धीराः) बुद्धिमान् धैर्य्यव्रत मनुष्य।

(अर्थ) अब उस परा विद्या से जानने योग्य ब्रह्म का लक्षण करते हैं, जो इन्द्रिय से अनुभव नहीं होता; क्योंकि इन्द्रियाँ स्थूल पदार्थ को देखने वाली हैं। वह सूक्ष्म और सर्व व्यापक है, उसका कोई गोत्र और वर्ण नहीं, क्योंकि यह किसी वंश में उत्पन्न नहीं हुआ और न सतोगुण, रजोगुण इत्यादि उसमें आते हैं, जिसमें कोई वर्ण कहा जावे। उसके नेत्र नहीं, क्योंकि नेत्र बाहर की वस्तु को देखने को होते हैं। उससे बाहर कोई वस्तु नहीं जिसके लिये नेत्र की आवश्यकता हो। उसके कान नहीं क्योंकि कान भी बाहर का शब्द सुनने के लिये होते हैं। और उसके हाथ पाँव नहीं, क्योंकि यह जाने के लिये होते हैं।

वह वहाँ जावे, जहाँ पहिले से विद्यमान न हो। हाथ उस वस्तु को पकड़ते हैं जो बाहर हो, उससे बाहर कोई वस्तु नहीं है, वह नित्य है, जिसकी उत्पत्ति और नाश दोनों असम्भव हैं। और सर्वत्र विद्यमान हैं और सब के हृदय के जाननेवाले हैं, उनको कोई साक्षी अथवा वकील आदि धोके में नहीं डाल सकता। वह सबसे सूक्ष्म है, उसमें किसी दूसरी वस्तु के गुण नहीं आ सकते। वह निकृष्ट से निकृष्ट वस्तु के भीतर रहते हुए भी उसके प्रभाव से पृथक् है। वह नाश रहित है, जो उस सम्पूर्ण जगत् के कारण को ध्यान द्वारा साक्षात् करते हैं। वह धैर्य-व्रत मनुष्य हैं जो मनुष्य के उद्देश मार्ग को पूर्ण करते हैं। उसके जानने से सब जाने जाते हैं।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा
पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा
सतः पुरुषात्केशलोमानि तथा
ऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥ ७ ॥

(शब्दार्थ) (यथा) जैसे। (ऊर्णनाभिः) मकड़ी। (सृजते) जाले को उत्पन्न करती। (गृह्णते) जाले को अपने भीतर प्रवेश करती है। (च) और। (यथा) जैसे। (पृथिव्याम्) पृथिवी के भीतर। (औषधयः) औषधि अन्नादि। (सम्भवन्ति) उत्पन्न हो जाते हैं। (यथा) जैसे। (सतः) विद्यमानता से। (पुरुषात्) पुरुष से। (केशलोमानि) शिर और शरीर के केश उत्पन्न होते हैं। (यथा) जैसे। (अक्षरात्) नाश रहित परमात्मा से। (सम्भवति) उत्पन्न होता है। (इह) जगत में। (विश्वम्) सब जगत।

(अर्थ) तीन दृष्टान्त दिये हैं जिससे प्रकट होता है कि सृष्टि की उत्पत्ति निमित्त कारण से होती है। जो मनुष्य उपा-

दान कारण और निमित्त कारण को एक मानकर सृष्टि की उत्पत्ति करना चाहते हैं, उनके समीप कोई दृष्टान्त नहीं। प्रथम दृष्टान्त यह है कि जिस प्रकार मकड़ी अपने भीतर से जाला निकालती है और फिर भीतर ही प्रवेश कर लेती है। इसी प्रकार परमात्मा अपनी माया में से जगत् को उत्पन्न करता है। माया अर्थात् प्रकृति जगत् का उपादान-कारण और परमात्मा निमित्त कारण, क्योंकि मकड़ी में शरीर और आत्मा दो होते हैं। यदि एक ही होता, तो मृतक मकड़ी जाला निकालती कहीं दृष्टि नहीं पड़ती। द्वितीय दृष्टांत दिया कि जैसे भूमि से अन्न उत्पन्न होता है। यहाँ भी बीज और भूमि या पानी और भूमि दो होते हैं। बिना पानी के भूमि से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती। तृतीय, जीव की विद्यमानता से शरीर में केश और लोम उत्पन्न होते हैं, यदि अकेले उत्पन्न होते तो मृतक शरीर से उत्पन्न हो जाते, अथवा बिना शरीर के आत्मा में उत्पन्न हो जाते। यही दृष्टान्त हैं जिनको अद्वैतवादी मनुष्य अभिन्न, निमित्त, उपादान-कारण की व्याख्या करते हुए पेश करते हैं। यह उनके मत को सिद्ध नहीं करते, किन्तु खण्डन करते हैं। इसीलिये वे और भी बहुत से वाद एक ही ब्रह्म से सृष्टि उत्पन्न करने के लिये कल्पना किया करते हैं, परन्तु प्रत्येक निर्बल ही प्रतीत होता है। क्योंकि परमात्मा जो नित्य स्वामी और नित्य ही राजा है, उनकी प्रजा का सत्य होना आवश्यकीय है। यदि प्रकृति न हो, तो उनका नाम परमात्मा किस प्रकार हो सकता है। क्योंकि बिना किसी व्याप्य के जिसमें व्यापक हो सके, व्यापक कैसे कहला सकते हैं।

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते। अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥८॥

(शब्दार्थ) (तपसः) परमात्मा के ज्ञान से। (चीयते) महत्ता है, परमात्मा का, जीवात्मा और प्रकृति पर इस महत्ता के कारण वह। (ब्रह्म) सब से बड़ा कहलाता है। (ततः) उस परमात्मा के ज्ञानानुकूल प्रकृति को क्रिया करने से। (अन्नम्) जो सब को बिना किसी विशेषता के पचाता है अर्थात् आकाश रूप अग्नि। (अन्नात्) उस अन्न से। (प्राणः) प्राण बनते हैं। (मनः) मन उत्पन्न हुआ (सत्यं) और उससे सत्य अर्थात् कारण रूप सूक्ष्म भूत उत्पन्न हुए और। (लोकाः) उससे यह स्थूल शरीर उत्पन्न हुआ। (कर्मसु) उनसे कर्म और कर्म से। (च) और। (अमृतम्) मुक्ति का साधन, अन्तःकरण की शुद्धि होता है।

(अर्थ) परमात्मा जब अपने अनन्त ज्ञान से जगत् को उत्पन्न करते हैं, तो कतिपय मनुष्य यह संदेह करते हैं कि जिस प्रकृति से जगत् को उत्पन्न किया जाता है और जो जीव उसमें प्रविष्ट होता है, परमात्मा को उन पर महानता क्यों है ? यद्यपि यह प्रश्न मूर्खता को प्रकाशित करता है, क्योंकि शब्द 'क्यों' का प्रयोग उत्पन्न हुई वस्तु पर किसी नित्य वस्तु पर इस शब्द का प्रयोग किसी प्रकार सम्भव नहीं। यथा कोई कहे अग्नि गरम (उष्ण) है, प्रकृति क्यों जड़ है, जीव क्यों चेतन्य है, ईश्वर क्यों नित्य है। परन्तु इस महत्त्व का कारण भी ऋषियों ने बता दिया है। वह कहते हैं कि ब्रह्म को दोनों पर महत्त्व इस कारण है कि वह ज्ञानानुकूल क्रिया देकर जगत् को बनाता है। जड़ प्रकृति से हरकत देने के कारण और अल्पज्ञ जीवात्मा को ज्ञान देने के कारण वह उन पर महत्व रखता है और इसी ज्ञान के महत्व के कारण उसका नाम ब्रह्म है और इस ज्ञान के अनुकूल प्रकृति को हरकत देने से आकाश उत्पन्न हुआ और आकाश से प्राण अर्थात् वायु और अग्नि उत्पन्न हुई और उससे जल, पृथिवी व मन उत्पन्न हुए, उससे सूक्ष्मभूत और उससे पंचतन्मात्रा अर्थात् गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द

उत्पन्न हुए, इससे स्थूल शरीर उत्पन्न हुए और उनसे जीव कर्म करने लगे और कर्म से ही अमृत मुक्ति के साधन हो सकते हैं।

प्रश्न—इस श्रुति में तो अन्न शब्द है, उसका अर्थ आकाश किस प्रकार कर लिया ?

उत्तर—जो सम्पूर्ण पदार्थों को खा जावे, अथवा जिसको भूत खावे, उसको अन्न कहते हैं। अतः आकाश के बिना कोई भी नहीं रह सकता और आकाश ही सब का नाश करनेवाला है। इसलिये जिस वस्तु में आकाश नहीं वही वस्तु अविनाशी है। इस लिये आकाश अर्थ हो सकता है।

प्रश्न—श्रुति में तप शब्द का अर्थ ज्ञान तथा चेतन्य कैसे हो सकता है।

उत्तर—श्रुति ने बताया है कि ब्रह्म का तप ज्ञान ही है। वह प्रत्येक वस्तु को ज्ञान से हरकत देता है। वह सर्व व्यापक स्वयम् हरकत करके दूसरों को हरकत नहीं देता, किंतु ज्ञानरूपी तप से ही हरकत देता है।

यः सर्वज्ञः सर्ववित्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥९॥

(शब्दार्थ)(यः) जो परमात्मा परा विद्या से जाना जाता है। (सर्वज्ञः) जो सर्वज्ञ है। (सर्ववित्) जो एक ही समय में सबको जान रहा है। (यस्य) जिसका। (ज्ञानमयं तपः) ज्ञान स्वरूप ही तप है। (तस्मात्) इस कारण से परमात्मा से। (एतत्) यह। (ब्रह्म) सबसे महान्। (नाम) बड़े का नाम। (रूपम्) रूप। (अन्नम्) औपधि आदि। (जायते) उत्पन्न होते हैं।

(अर्थ) जो परमात्मा सम्पूर्ण जगत् के पदार्थों को जानता है, जिसका ज्ञान स्वाभाविक है, जिसको नैमित्तिक ज्ञान कहीं

होता ही नहीं। क्योंकि जिसका ज्ञान प्रथम न हो, उसका ज्ञान न होने से वह सर्वज्ञ न हो, पहले जिसको न जानता हो उसी को जाने, वह सर्वज्ञ होने से पहले ही से सब को जानता है। और यह नहीं कि किसी को अब जाना और किसी को कल। किन्तु कुल का प्रत्येक स्थान पर होने से प्रत्येक समय एक साथ जानता है और इस ज्ञान के महत्व से उसका नाम ब्रह्म है। और उससे जगत् में नाम रूप और भोग्य वस्तु उत्पन्न हुई हैं। यदि परमात्मा अपने ज्ञान में से नाम रूप की विद्या न देता तो जीव उसको किसी प्रकार नहीं जान सकते।

प्रश्न—क्या हम जो कुछ संसार में परिवर्तन देखते हैं परमात्मा इनको नहीं जानता?

उत्तर—जगत् में जो कुछ है, वह सब तीन भागों में है। एक जाति, दूसरे आकृति, तीसरे व्यक्ति, यह तीनों पृथक्-पृथक् विद्यमान होती हैं, उत्पन्न नहीं होती हैं। इसलिये परमात्मा इसको पहले से जानते हैं। क्योंकि जाति उस वस्तु का नाम है, जो एक से गुणवाली बहुत सी वस्तु पर ठीक-ठीक प्रयोग हो और वह जाति परमात्मा के ज्ञान में सदा रहती है क्योंकि उसका चिह्न आकृति है और आकृति प्रत्येक वस्तु में कर्ता के ज्ञान से आया करती है। जैसे मकान के बनने से पहले इंजीनियर उसका चित्र तैयार करता है। मकान में जो आकृति आती है उस चित्र से आती है, जो मकान के बनने से पहले इंजीनियर के ज्ञान में विद्यमान थी। और शरीर बनने के समान प्रकृति में विद्यमान थे, अतः तीनों वस्तु परमात्मा के ज्ञान में पहले से विद्यमान होती हैं। फिर नवीन कौन सी वस्तु है, जिसका उसे ज्ञान हो।

प्रथम मुण्डक का प्रथम खण्ड समाप्त हुआ।

अथ प्रथम मुण्डक-द्वितीय खण्ड

—:०*०:—

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्य-पश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥ १ । १० ॥

अब द्वितीय खण्ड में परमात्मा के जानने में जो रुकावट अन्तःकरण का मलीन होना है, जिसके कारण से मनुष्य परमात्मा के सम्बन्ध में पुरुषार्थ करते हुए सफल नहीं होते। यथा दर्पण के बिना नेत्र और उसमें रहनेवाला अंजन दृष्टि नहीं आता। परमात्मा ने जीव को अपने स्वरूप और परमात्मा को जानने के लिये मन का दर्पण दिया है, जिसको अविद्या से यह जीवात्मा मलीन कर लेता है। और उस मन के मलीन हो जाने से जीव को न तो अपना ही ज्ञान रहता है, न परमात्मा का। अब उस मन को शुद्ध करने का विधान बताते हैं।

(शब्दार्थ) (तदेतत्सत्यं) यह बात सत्य है कि प्रत्येक प्रयत्न धर्मवाले जीव को कर्म करना चाहिये, क्योंकि वेद में ईश्वर ने जीव को जिन कर्मों को करने की आज्ञा दी है वह हानि नहीं कर सकते। (मंत्रेषु) वेद मन्त्रों में। (कर्माणि) जितने कर्म। (कवयः) ज्ञानी ऋषियों ने। (यानि) जो जो। (अपश्यन्) देखे अर्थात् योग से मालूम किये। (तानि) उनको। (त्रेतायाम्) त्रेतायुग में अथवा तीन गुणवाले जगत् में। (बहुधा) बहु प्रकार की व्याख्या के साथ। (सन्ततानि) शास्त्रों के द्वारा बताकर। (तानि) उनको। (अचरथ) कर्म में लाओ। (नियतं) नियमानुकूल। (सत्यकामाः) सत्य की कामना रखनेवाले मनुष्यों। (एषः) यही। (वः) तुम्हारा।

(पन्थाः) मार्ग है । (सुकृतस्यः) अपने कर्तव्य के पालन का । (लोके) संसार में ।

(अर्थ) जो मनुष्य सत्य अर्थात् तीन काल में रहने वाले परमात्मा के जानने की इच्छा रखते हों, उनके लिये सन्मार्ग यह है कि अन्तःकारण की शुद्धि के अर्थ सबसे प्रथम ज्ञान के अनुकूल निष्काम कर्म करें । क्योंकि जब तक मन का दर्पण शुद्ध न हो, तब तक जीव को परमात्मा का और अपना ज्ञान हो ही नहीं सकता । और वेद मन्त्रों में ज्ञानी ऋषियों ने जिन-जिन कर्मों को देखा कि ये जीव के अन्तःकरण की शुद्धि के कारण हैं, उन कर्मों को त्रेतायुग या तीन प्रकार के सत्, रज, तम, गुण-वाले संसार में प्रत्येक अधिकारी की अवस्था के अनुकूल पृथक्-पृथक् करके दिखाया । तुम उस वेदोक्त कर्म को करो क्योंकि बिना उसके तुम्हारी परमात्मा की प्राप्ति की इच्छा का पूर्ण होना कठिन है । यदि कोई मनुष्य दर्पण को शुद्ध करने का कर्म न करके, दर्पण में से नेत्र और नेत्र के अंजन को देखने का यत्न करे, परन्तु वह देख नहीं सकता । इसी प्रकार जो मनुष्य बिना निष्काम कर्म के द्वारा अन्तःकरण को शुद्ध करके परमात्मा को देखना चाहे वह अज्ञानी है ।

प्रश्न—कब तक कर्म करना चाहिये ?

उत्तर—जब तक अन्तःकरण प्रत्येक प्रकार के दोषों से शुद्ध न हो जावे ।

प्रश्न—इसका क्या प्रमाण है कि अब अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, अथवा नहीं शुद्ध हुआ ?

उत्तर—जब तक तीन प्रकार की कामना शेष रहती हैं, तब तक मन अशुद्ध होता है । और जब शुद्ध हो जाता है, तब यह तीन प्रकार की इच्छाएँ निवृत्त हो जाती हैं ।

प्रश्न—वह तीन प्रकार की कामना कौन सी हैं, जिनके दूर होने से मन निर्मल हो जाता है ।

उत्तर—वित्तेषणा अर्थात् धन की इच्छा, जिसको धन की

इच्छा है, उसका मन मलीन है। द्वितीय, पुत्रेषणा अर्थात् संतान की इच्छा। तृतीय, लोकेषणा अर्थात् यश, प्रतिष्ठा और शासन की इच्छा।

प्रश्न—धन की इच्छा क्यों मन के मलीन होने का प्रमाण है?

उत्तर—धन दूसरे को हानि पहुँचाकर ही तो प्राप्त होता है। दूसरे उससे प्रत्येक समय हानि ही होती है। जैसा कि भर्तृहरिजी ने कहा कि प्रथम तो धन के एकत्र करने में ही कष्ट होता है। दूसरे उसके रक्षा करने में रात्रि दिवस जागना पड़ता है। तीसरे, व्यय करने में भी विचार होता है कि अधिक व्यय हो गया। चौथे, नाश होने पर तो बहुत ही हानि होती है, सैकड़ों को पागल बना देता है।

प्रश्न—लोकेषणा क्यों बुरी है?

उत्तर—उसमें भी दूसरे मनुष्यों की स्वतंत्रता पर ही आघात करना पड़ता है।

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने।
तदाज्यभागावन्तरेणाऽऽहुतीः प्रतिपादयेच्छ्रद्धया हुतम्॥ २। ११॥

(शब्दार्थ) (यदा) जिस समय। (लेलायते) ठीक प्रकार जल उठे। (हि) निश्चय। (अर्चिः) अग्नि की लपट। (समिद्धे) समिधा में प्रवेश कर जावे। (हव्यवाहने) हवन की सामिग्री को सूक्ष्म करके उड़ानेवाली अग्नि में। (तदा) उस समय (आज्यभागौ) घी के देने योग्य दो आहुतियों को। (अन्तरेण) अन्तर है। (आहुति) आहुति। (प्रतिपादयेत्) डालता जावे। (श्रद्धया) श्रद्धा से। (हुतम्) जिससे हवन ठीक हो सके।

(अर्थ) अब यज्ञ के लिये जो निष्काम कर्म हैं, उसका

विधान बताते हैं कि जब समिधा में लगी हुई अग्नि भले प्रकार से अग्नि में प्रवेश कर जावे और देवताओं को हवन का भाग पहुँचानेवाली अग्नि भले प्रकार प्रचंड हो जावे, घृत की दो आहुतियों के अन्तर से हवन कुण्ड में श्रद्धा से आहुतियाँ डालना चाहिए।

प्रश्न—यज्ञ को निष्काम कर्म क्यों कहते हैं? क्योंकि वह वायु की शुद्ध के अर्थ किया जाता है?

उत्तर—यज्ञ केवल वायु की शुद्ध के लिये तो विद्वान् मनुष्य स्वीकार नहीं करते, किन्तु उससे और भी बहुत लाभ है। यथा हम यदि भोजन बाँटें, तो सम्भव है तो अपने मित्रों को दें और शत्रुओं को उससे वंचित रक्खें। परन्तु हवन में जो सामिग्री डाली जाती है, उसका प्रभाव प्रत्येक मित्र शत्रु पर बिना किसी विचार के एक सा होता है। इस कारण यज्ञ का नाम निष्काम कर्म भी है, जब कि किसी संसारिक स्वार्थ से न किया जावे।

यस्याग्निहोत्रमदर्शपौर्णमासमम चातुर्मास्यमनाग्रायणमतिथिवर्जितञ्च ।
अहुतमवैश्वदेवमविधिनाहुतमासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति ॥ ३ । १२ ॥

(शब्दार्थ) (यस्य) जिस गृहस्थी के घर का। (अग्निहोत्रम्) आग्नहोत्र। (अदर्शम्) वह यज्ञ जो अमावस्या और एकम के मिलाप के समय होता है। (अपौर्णमासम्) जो पूर्णमासी में करनेवाला यज्ञ नहीं करता। (अचातुर्मास्य) वह यज्ञ जो चातुर्मास में किया जाता है वह नहीं होता (अनाग्रयणम्) जो शरद ऋतु अर्थात् कार्तिक के मास में करनेवाला यज्ञ नहीं करता। (अतिथिवर्जितम्) जिस घर में अतिथि की

प्रतिष्ठा नहीं होती। (अहुतम्) जो समय पर अग्निहोत्र नहीं करता है। (अवैश्वदेवम्) जिसके घर में छोटे जीवों के निश्चित का बलिवैश्व देव यज्ञ भी नहीं होता। (अविधिनाहुतम्) जो नियम विरुद्ध हवन करता है। (आसप्तमान्) सात वंशा तक। (तस्य) उसके। (लोकान्) लोकों को। (हिनस्ति) नाश करता है।

(अथ) जिस घर में अग्निहोत्र वर्ष यज्ञ अर्थात् यज्ञ जो अमावस और एकम् के योग पर होता है, पूर्णमासी का यज्ञ और चतुर्मास में करने योग्य शरद ऋतु में करने योग्य यज्ञ नहीं किये जाते। और जिस घर में आये हुए अतिथि का सत्कार नहीं होता और जिस घर में अग्निहोत्र काल पर नहीं होता और नियम पूर्वक नहीं करता। और जिस घर में अग्नि-यम अग्निहोत्र किया जाता; उसके सप्तलोक नाश हो जाते हैं। इस अवसर पर किसी का विचार तो यह है कि उसकी अगली सात पीढ़ी तक नष्ट हो जाती हैं। परन्तु यह जांचत नहीं मालूम होता। क्योंकि जब दूसरे तीसरे कुल के मनुष्य नष्ट हो गये, तो और अगले उत्पन्न ही नहीं होंगे। इसलिए सप्त शब्द ठीक प्रयोग नहीं होता। बहुतेरे कहते हैं कि पहिली सप्त पीढ़ी नष्ट हो गई। यह भी ठीक नहीं। क्योंकि पिछली दो तीन से अधिक जीवित नहीं होतीं। कुछ मनुष्य कहते हैं कि सात पीढ़ी का धर्म नाश होता है। परन्तु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि एक के धर्म न करने से दूसरे का धर्म नष्ट नहीं हो सकता। अतः इसका मूल तात्पर्य यह है कि जो नियमों को तोड़ता है उसके अन्तःकरण की शुद्धि नहीं होती। और अन्तःकरण की शुद्धि न होने से वैराग्य नहीं होता और वैराग्य न होने से अंतःकरण की स्थिति नहीं। और अन्तःकरण के स्थिर न होने से ईश्वर की उपासना नहीं होती। और ईश्वर की उपासना बिना दुःख की निवृत्ति नहीं होती। और दुःख की निवृत्ति न होने से आनन्द नहीं मिलता। दुःख की निवृत्ति तथा आनन्द की प्राप्ति

न होने से मुक्ति नहीं होती। क्योंकि निष्काम यज्ञ अन्तःकरण की शुद्धि का कारण है और अन्तःकरण की शुद्धि से ही वैराग्य होता है। जिसका मन मलीन है, उसका वैराग्य नहीं हो सकता। और जिसको वैराग्य नहीं, उसका मन स्थिर नहीं हो सकता। जिसका मन स्थिर नहीं, उसको ईश्वर की उपासना नहीं; उसको दुःख से निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है। और जब बुद्धि दुःख के साथ सम्बन्ध रखती है, तो आनन्द किस प्रकार मिल सकता है। जहाँ दुःख की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति नहीं, वहाँ मुक्ति कैसी। अतः निष्काम कर्म न करनेवाले के यह सात अन्तःकरण की शुद्धि, विराग, अन्तःकरण की स्थिति, ईश्वर की उपासना, दुःख से दूरी, आनन्द की प्राप्ति और मुक्ति नाश हो जाती है। अर्थात् यह सप्त लोक नहीं मिल सकते; इनके दर्शन से वंचित रहता है।

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिंगिनी विश्वरूपी च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥ ४।१३॥

(शब्दार्थ) (काली) जिसका रंग काला है। (कराली) भयङ्कर। (मनोजवा) मन की भाँति बहुत ही चंचल। (सुलोहिता या च) ठीक प्रकार लाल रंगवाली। (सुधूम्रवर्णा) शुद्ध धूम्र की भाँति जिसका रंग है। (स्फुलिङ्गनी) जिसमें चिनगारियाँ निकल रही हैं। (विश्वरूपी) जिसके भीतर सब प्रकार के अङ्ग विद्यमान हैं। (च) और। (देवी) प्रकाश करने वाली। (लेलायमाना) दहकते हुए प्रकाश से युक्त। (इति) यह। (सप्त) सात। (जिह्वा) जिसमें होम करना है उसकी यह जिह्वा अर्थात् अवस्था है।

(अर्थ) जिस समय अग्नि इन सात दशाओं में अर्थात् वेग से जल रही हो, उस समय होम करना चाहिये। एक ओर

काला धूम्र निकल रहा हो। दूसरे देखने से भयङ्कर मालूम हो। रक्तवर्ण लापटें निकल रही हों। चारों ओर धूम्र फैलने से आकाश धूम्र वर्ण बना रहे और चिनगारियाँ छोटी छोटी उठ रहीं हों। और प्रत्येक वर्ण मी प्रकाशकत्री अग्नि देवो प्रकाश कररही हो। और जिस समय अग्नि प्रकाश होकर इधर उधर लहर मार रही हो, यह सात दशा हैं। उस समय अग्नि में होम करना चाहिये। आशय यह है कि बुझी हुई अग्नि में अग्निहोत्र करना ठीक नहीं, किंतु खूब जलती हुई अग्नि में होम करना चाहिये।

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्। तन्नयन्त्येताः सूर्य्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥ ५ । १ ४॥

(शब्दार्थ) (एतेषु) उपर्युक्त दशाओं में। (यः) जो अग्नि होत्र आदि वेद के अनुकूल करता है। (चरते) अग्निहोत्र करता है। (भ्राजमानेषु) प्रकाश करते हुए में। (यथाकालम्) ठीक काल के अनुकूल आहुति देना। (च) और। (आहुतयः) आहुति जो अग्निहोत्र में एक बार सामिग्री डालते हैं। (हि) निश्चय करके। (आददायन्) ठीक प्रकार देने वाला। (तम्) उसको जिसने निष्काम कर्म किया है। अर्थात् भूख को इच्छा त्याग कर दूसरों के उपकारार्थ यज्ञ किया है। (नयन्ति) प्राप्त होती या कराती हैं। (एताः) ये आहुतियाँ। (सूर्यस्य) सूर्य की। (रश्मयः) किरणों के द्वारा या प्राणवायु के साथ। (यत्र) जहाँ। (देवानाँ) देवतों का। (पतिः) पति। (एकः) एक। (अधिवासः) जो सम्पूर्ण जगत् का निवास स्थान है।

(अर्थ) जो मनुष्य इस प्रकार ठीक-ठीक जलती हुई अग्निमें वेद के अनुकूल निष्काम भावसे आहुतियाँ देता, ठीक-ठीक कर्म करता है। अर्थात् जिस समय और जिस प्रकार से जो

आहुति देनी चाहिये, उसी प्रकार देता है। उस निष्काम यज्ञ करनेवाले को सूर्य की किरणों के साथ मिलकर यह आहुतियाँ देवतों के पति सूय या परमात्मा के, जो एक होकर सम्पूर्ण जगत् की रक्षा और प्रकाश कर रहा है, पहुँचा देती हैं। तात्पर्य यह है कि जब मनुष्य निष्काम यज्ञ करता है, तो उसकी सामग्री की आहुतियाँ सूर्य की किरणों या मेघ आदि में होती हुई संसार को लाभ पहुँचाती हैं और करनेवाले का अतःकरण परोपकार के कारण शुद्ध होकर ईश्वर के नियमों के अनुकूल उन्नति करता हुआ एक समय में उस जीव को सम्पूर्ण देवों के देव परमात्मा के दर्शन तक पहुँचा देता है। जिसके भीतर जब जगत् पालन कर रहा, जो सब से बड़ा होने से सब के समीप विद्यमान होने पर भी दूर रहता है।

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति। प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यःसुकृतो ब्रह्मलोकः॥ ६। १५॥

(शब्दार्थ) (एहि एहि) आओ जाओ इस प्रकार। (इति) यह। (तम्) उस यज्ञ करनेवाले को (आहुतयः) वह आहुतियाँ। (सुवर्चसः) उत्तम धर्म से जगत् प्रकाश करनेवाली। (सूर्यस्य) सूर्य की (राश्मभिः) किरणों के द्वारा मृत्यु के पश्चात्। (यजमानं) यज्ञ करनेवाले पुरुष को। (वहन्ति) मुक्ति दशा को प्राप्त कराती हैं (प्रियाम् वाचम्) मीठी वाणी को। (अभिवदन्त्यः) कहती हुई। (अर्चयन्त्यः) पूजा करती हुई या सुखपहुँचाती हुई। (एष) यह। (वः) तुम्हारा। (पुण्यः) नेक कर्म। (सुकृतः) भले प्रकार कहा हुआ। (ब्रह्मलोकः) परमेश्वर के दर्शन या ज्ञान का कारण है, जिसके फल में दुख लेशमात्र भी नहीं; सदा सुख ही होता है।

(अर्थ) जो कुछ मनुष्य शुभ कर्म करता है, उसकी दो अवस्था होती हैं। एक अवरिष्ट, द्वितीय संस्कार ; अवरिष्ट का संस्कार मन में स्थित हो जाता है। और जब उस कर्म के अवरिष्ट फल के भोग का समय आता है, तब वह संस्कार अपने साथी अवरिष्ट को सूर्य की किरणों में जा फैली हुई विद्युत् हैं, उसके द्वारा अपने समीप बुला लेता है। जिस प्रकार संसार में देखा जाता है कि जिस प्रकार का बीज बोया जाता है वह अपने जाति के परमाणुओं को बुला लेता है। जिस प्रकार मिरच का बीज उसी भूमि से कड़वे परमाणु खींच लेता है। उसी प्रकार जिस प्रकार के संस्कार के साथ अवरिष्ट का उदय होता है, वैसा ही पहले उदयहोता है। जिस भाँति समझदार धर्मात्मा के भीतर से एक प्रकार की आवाज़ आती है ; जो प्रकट करती है कि अब सुख देनेवाले कर्मों का उदय होगा और पापी को पाप का फल उदासी और चिन्ता की अवस्था में आता हुआ देख पड़ता है।

प्रश्न—क्या आहुतियाँ चेतन्य हैं ? जो प्रसन्नता से पुकारती हैं।

उत्तर—पुकारना दो प्रकार से होता है ; एक वाणी से, द्वितीय इशारे से। ऋषि का तात्पर्य इशारे से है, जिसके लिये जड़ चेतन्य की कोई विशेषता नहीं।

प्लवा ह्येत अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दंति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥ ७। १६ ॥

(शब्दार्थ) (प्लवाः) दुख से युक्त। (हि) निश्चय करके। (एते) ये। (सुदृढाः) जो आरूढ़ नहीं है। (यज्ञरूपाः) कामना से किये हुएयज्ञादि कर्म। (अष्टादशोक्त) जिसमें अष्टादश यजमान ब्रह्मा और १६ ऋतिजों का विधान

है, या १७ अंग शरीर के और एक आत्मा १८ की दुरुस्ती के वास्ते जो बताये गये। (अवरः) जो इस ओर का है। (येषुकर्म) जिस कर्म से प्रधान है। (एतत) यह है। (श्रेयः) मुक्ति का मार्ग है। (ये) जो। (अभिनन्दंति) सब से अन्तिम मार्ग मान कर जो इस पर अभिमान करते हैं। (मूढाः) मूर्ख लोग। (जरा) बुढ़ापे। (मृत्यु) मृत्यु को। (ते) वह कर्मकाण्डी मनुष्य। (पुनः) फिर। (एव) ही। (अपि) भी। (यन्ति) प्राप्त होते हैं।

(अर्थ) जो मनुष्य इस निष्काम कर्म-काण्ड को जिसका फल दृढ़ और अति सुख का देनेवाला नहीं, किन्तु उसका फल सुख दुख युक्त है। जिस यज्ञ में कर्म १८ करानेवाले बताए हैं, जो १८ अर्थात् दस इन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन, अहंकार और जीव की शुद्धि के लिये किया जाता है। यद्यपि यह कर्म पापों की अपेक्षा तथा न करने की अपेक्षा उत्तम है, परन्तु जो मनुष्य इसी को सब से श्रेष्ठ कर्म मानकर और यह विचार करके कि केवल कर्म से ही मुक्ति हो जावेगी, आगे यत्न नहीं करते, किन्तु इसी पर प्रसन्न हैं; वह मूर्ख मनुष्य बार-बार जन्म मृत्यु प्राप्त करते हैं। आशय यह है कि निष्काम कर्म का फल (पापों से उत्तम है मुक्ति नहीं है और निष्काम कर्म का फल) सकाम से उत्तम है, परन्तु साक्षात् मुक्ति का साधन नहीं हैं।

प्रश्न—क्या कर्म से मुक्ति नहीं होती?

उत्तर—अकेला कर्म मुक्ति का साधन नहीं, किन्तु ज्ञान कर्म उपासना से जो विज्ञान प्राप्त होता है वह मुक्ति का साधन है।

प्रश्न—वेद ने आज्ञा दी है कि जब तक जीता रहे, कर्म करता रहे। और बन्धन कर्म का हेतु नहीं।

उत्तर—निस्सन्देह शत वर्ष तक कर्म करता हुआ जीवे, परन्तु वह कर्म चार प्रकार का है। ब्रह्मचारी का कर्म पढ़ना है, जैसा कि सम्पूर्ण शास्त्रकार स्वीकार करते हैं। गृहस्थ का कर्म यज्ञादि करना है। और बानप्रस्थ का कर्म उपासना करना है। और संन्यास आश्रम में विज्ञान प्राप्त करना है।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य तो इतना ही कहते हैं कि कर्म करने से ही मुक्ति होती है। और कोई कहते हैं, उपासना अर्थात् भक्ति से भी मुक्ति होती है। और कुछ कहते हैं विज्ञान से मुक्ति होती है। इसमें सत्य क्या है ?

उत्तर—न तो ज्ञान के बिना कर्म से मुक्ति हो सकती है, क्योंकि पाप भी एक प्रकार का कर्म है, वह क्यों पाप हैं। इसलिये कि ज्ञान उसके विरुद्ध है और न अकेले ज्ञान से मुक्ति हो सकती है। यह सब ही सच्चे हैं, क्योंकि एक मकान में बहुत श्रेणी हैं, प्रत्येक श्रेणीवाला सत्य कहता है कि इस सीढ़ी से चढ़ने के बिना मकान पर नहीं चढ़ सकता। परन्तु अन्तिम श्रेणी विज्ञान की है, उसकी अपेक्षा सब श्रेणियाँ मार्ग से दूर की हैं और वह मार्ग के समीप की है।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः। जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैवनीयमाना यथाऽन्धाः ॥८।१७॥

(शब्दार्थ) (अविद्यायाम्) अविद्या अर्थात् मिथ्या कर्म से मुक्ति होती है, इस विचार के। (अन्तरे) भीतर। (वर्तमानाः) रात दिवस फँसे हुए। (स्वयं) अपने को। (धीराः) ज्ञानी। (पण्डितं मन्यमाना) सत् असत् का विचार करनेवाले मानते हुए। (परियन्ति) इधर-उधर भागते हैं। (मूढा) मूर्ख मनुष्य। (जंघन्यमानाः) नीची अवस्था में गिरते हुए। (अन्धेन) अन्धे के पीछे लगकर। (एव) ही। (नीयमानो) चलनेवाले हैं। (यथा) जैसे। (अन्धाः) दूसरे अन्धे।

(अर्थ) मूर्ख मनुष्य कर्म में फँसे हुए; और कर्म से मुक्ति होती है, इस विचार में मतवाले होकर अपने को बुद्धिमान् और पंडित समझते हुए नीच योनियों में जा गिरते हैं। जैसे

अंधे के पीछे लगकर दूसरा अंधा भी कूप में जा गिरता है। इसी प्रकार यह मनुष्य भी अविद्या में ग्रसित स्वयं तो गिरते हैं परन्तु दूसरों को अपने साथ कूप में गिराते हैं। तात्पर्य यह है कि कर्म-काण्ड की श्रेणी तो है जिसको ग्रहण करना और त्यागना अवश्य है। और जो मनुष्य इस सीढ़ी का आश्रय लेकर आगे चलने से रुक जाते हैं और दूसरों को भी रोकते हैं वह स्वयम् भी गिरते हैं और अपने सहायकों को भी गिराते हैं। जैसे अन्धे के पीछे अन्धा लगकर गिरता है।

अविद्यायां बहुधा वर्त्तमाना वयं
कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्ते-
नातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥९।१८॥

(शब्दार्थ) (अविद्यायां) उपर्युक्त ज्ञान में। (बहुधा) बहुत तरह पर। (वर्त्तमानाः) रहते हुए ना काम करते हुए। (वयं) हम लोग। (कृतार्थाः) मार्ग पर पहुँच गये। (इति) यह। (अभिमन्यन्ति) अभिमान करते हैं। (बालाः) अज्ञानी लोग। (यत्कर्मिणः) जिस कर्म में फँसे हुए। (न) नहीं। (प्रवेदयन्ते) परमात्मा को जानते। (रागात्) राग से। (तेन) उससे। (आतुराः) दुखी होकर। (क्षीण-लोकाः) नीच योनियों में। (च्यवन्ते) गिर जाते हैं अर्थात् मनुष्य योनि से गिरकर पशु योनि में प्रवेश करते हैं।

(अर्थ) कर्मकाण्ड में फँसे हुए अर्थात् कर्म को ही मुक्ति का साधन मानते हुए हम सफल होगये हैं; ऐसा अभिमान करते हैं वह अज्ञानी हैं। क्योंकि प्रथम बता चुके हैं कि अकेले कर्म से मुक्ति नहीं हो सकती। जो कर्म करनेवाले निष्काम करके अन्तःकरण की शुद्धि के द्वारा परमात्मा के ज्ञान तक पहुँच जाते हैं, उनको तो कर्म में अभिमान नहीं होता। जो

कर्म के अभिमान से परमात्मा के जानने का प्रयत्न नहीं करते, जिससे उनको आत्मज्ञान नहीं होता। और वह कर्म के राग से दुखी होकर ज्ञान से नीचे की अवस्था अर्थात् जन्म मरण के चक्र में जा गिरते हैं।

प्रश्न—शुभ कर्म करनेवालों को भी जन्म लेना पड़ेगा, क्या उनकी मुक्ति नहीं होगी ?

उत्तर—जन्म मरण का कारण पाप पुण्य के फल हैं। और पाप पुण्य का कारण प्रवृत्ति है, अर्थात् शुभाशुभ कर्म में लगना, अशुभ काम से पाप और शुभ से पुण्य होता है। और प्रवृत्ति का कारण राग द्वेष है। जिसमें द्वेष होता है, उसके नाश का यत्न किया जाता है। और जिसमें राग होता है, उसके प्राप्त करने का यत्न किया जाता है। और जिसमें राग द्वेष विद्यमान हैं, उसका जन्म होना अवश्य है। जिसका राग नाश हो जावे, उसका जन्म मरण नाश हो सकता है।

इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं
नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढा ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं
लोकं हीनतरं चाविशंति ॥ १० । १६ ॥

(शब्दार्थ) (इष्टापूर्त्तं) संसारिक इच्छा से जो काम बावली, कूप, सर, यज्ञ इत्यादि किये जाते हैं। (मन्यमानाः) इनमें सबसे बड़े होने का विचार रखनेवाले। (वरिष्ठं) इस से अधिक कोई मार्ग नहीं। (न) नहीं। (अन्यत्) दूसरे कोई मुक्ति। (वेदयन्ते) जानते हैं। (प्रमूढा) अत्यन्त मूढ। (नाकस्य) जिस देश अथवा अवस्था में दुख नहीं है उस देश या अवस्था के। (पृष्ठे) उस पार पहुँचकर। (ते) वे। (सुकृते) शुभ कर्मों का फल। (अनुभूत्वा) अनुभव करके। (इमम्) इस प्रत्यक्ष। (लोकं) शरीर पर, या पृथिवी लोक

पर। (हीन तरं) इससे भी अधिक नीचे अर्थात् निकृष्ट योनि को। (विशन्ति) प्राप्त होते हैं।

(अर्थ) मनुष्य रजोगुण और तमोगुण से मोहित होकर केवल सांसारिक सुखों के वास्ते ही या संसार में यश, मान और प्रभुत्व प्राप्त करने के अर्थ बहुत से वैदिक कर्म अर्थात् कूप तालाब मंदिर बनवाना अथवा यज्ञ, दान करना इत्यादि कर्मों में फँसकर ऐसा विचार करते हैं कि इनसे उत्तम कोई कर्म नहीं, न अन्य कोई मुक्ति है। जो कुछ है यही कर्म और इस का फल सुख ही है, उनसे अच्छा कर्म और सुख कोई नहीं। वह मनुष्य उस शुभ कर्म का फल किसी ऐसे स्थान पर भोग कर जहाँ दुख न हो अथवा ऐसे जन्म में जाकर जहाँ सुख के कारण सब विद्यमान हों कर्मों का फल समाप्त करके या तो उसी मनुष्य योनि में आ जाता है, अथवा उससे भी किसी नीच योनि में पहुँच जाता है। तात्पर्य्य यह है कि सकाम कर्म का फल सुख भोग कर फिर कर्मों के अनुकूल किसी जन्म में आना होगा।

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः। सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः पुरुषोह्यव्ययात्मा॥११।२०॥

(शब्दार्थ) (तपःश्रद्धे) स्वाध्याय और सत्य से यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने और चान्द्रायण इत्यादि व्रतों में जो कष्ट होता है उसका नाम तप है। नित्य कर्म में श्रद्धा करता है। (ये) जो। (हि) निश्चय करके। (उपवसन्ति) इन्द्रियों और मन को रोककर वास करते हैं। (अरण्ये) जंगल में। (शान्ता) जिस के मन की वृत्तियाँ शान्त हों। (विद्वांसः) जो ज्ञान से युक्त हो। (भैक्षचर्यां) जो भीख माँगकर ही अपना निर्वाह करता हो। (चरन्तः) उससे जीवन व्यतीत करते हैं।

(सूर्यद्वारेण) सूर्य या वेद के अनुकूल कर्म उपासना ज्ञान के द्वारा सुषमा नाड़ी के प्राण त्यागने से । (ते) वे । (विरजाः) मैल से छूटे हुए । (प्रयान्ति) प्राप्त होते हैं अथवा पहुँचते हैं । (यत्र) जहाँ । (अमृतः) मुक्ति अथवा परमात्मा है । (पुरुष) संसार या अपने शरीर में रहने वाला । (हि) निश्चय करके । (अव्ययः) नाश से रहित । (आत्मा) सर्व व्यापक परमात्मा है ।

(अर्थ) जो मनुष्य तप अर्थात् सत्य बोलने, प्रत्येक वस्तु के मूल तत्व को समझने, इन्द्रियों के विषयों से रोकने, शीतोष्ण भूख प्यास और मानापमान के सहने में जो कष्ट होता है, धर्म में श्रद्धा से उसके लिये पुरुषार्थ करते हुए मग्न रहते हैं । और शान्त चित्त होकर आत्मज्ञान के सम्बन्ध, विद्या को जानने वाले भीख माँग कर भोजन करने वाले और सूर्य के द्वारा अर्थात् सुषमा नाड़ी में प्राण त्याग कर फल से पृथक् होने के कारण से उस स्थान पर पहुँचते हैं जहाँ अमृत है ; अर्थात् मुक्ति अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं । और जो पुरुष अर्थात् परमात्मा नाश रहित और सब के भीतर विद्यमान है जो सबका आत्मा होने से सबसे सूक्ष्म है, वह उस आत्मा के दर्शन से आनन्द भोगते हैं ।

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम् ॥ १२ । २१ ॥

(शब्दार्थ) (परीक्ष्य) इस उत्पन्न होने और नाश होने वाले शरीर का सम्पूर्ण अवस्थाओं का विचार करके । (लोकान्) संसार या शरीर को । (कर्मचितान्) जो पाप और पुण्यकर्म के फल भोगने के लिये मिले हैं । (ब्राह्मणः)

वेद का जाननेवाला अथवा ईश्वर का पूर्ण विश्वासी। (निर्वेदम्) संसार के भोग से उदास होकर। (आयात्) प्राप्त करने। (नास्ति) नहीं है। (अकृतः) किये हुए से पृथक्। (कृतेन) कर्म के फल भोग से। (तत्) उसके। (विज्ञानार्थं) परमात्मा के ठीक प्रकार ज्ञान प्राप्त करने के लिये। (सः) वह जिज्ञासु। (गुरुमेव) गुरु के पास भी। (अभिगच्छेत्) जावे। (समित्पाणिः) हाथ में समिधा लेकर वह गुरु कैसा हो जिसके पास जावे। (श्रोत्रियं) जिसने वेद के द्वारा ब्रह्मज्ञान को सुना भी हो। (ब्रह्मनिष्ठम्) जिसका विचार उसमें स्थिर भी हो।

(अर्थ) ब्राह्मण इस जगत् के सम्पूर्ण भोगों को जो उत्पन्न होने और नाश होने के कारण से दुख ही देनेवाले हैं। उनसे मन को राग द्वेष से पृथक् और ऐसी अवस्था में यह विचार करके कि यह शरीर और इसके भोग कर्म से प्राप्त और कर्म का फल समाप्त होने पर नाश हो जावेंगे। क्योंकि यह नित्य रहनवाले नहीं। उस दशा में कर्म-फल के विचार को पृथक करके उस परमात्मा के जानने के वास्ते ऐसे गुरु के पास जिसने नियम पूर्वक वेद से ब्रह्म को सुना हो और उसको मनन निदिध्यासन करके साक्षात् भी कर लिया हो, हाथ में समिधा लेकर जावे।

प्रश्न—जिस मनुष्य ने ब्रह्मचर्याश्रम में वेद-विद्या पढ़ ली हो, उसको गुरु के पास जाने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—जब वेद पढ़ते हैं तब श्रवण होता है। जब उसको मनन करते हैं तो बहुत से शंका उत्पन्न होते हैं। जब निदिध्यासन करते हैं तो बहुत बाधा उत्पन्न होती हैं। इसका उपाय अतिरिक्त ब्रह्म को साक्षात् करनेवाले गुरु के और से नहीं हो सकता। अतः ब्रह्मचर्याश्रम में जो गुरु होता है वह शब्द ब्रह्म का ज्ञान करता है अर्थात् वेद को पढ़ाता है। और संन्यास आश्रम में जो गुरु होता है, वह ब्रह्म के दर्शन कराता है।

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशांत-चित्ताय शमान्विताय । येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥१३।२२॥

(शब्दार्थ) (तस्मै) उस ब्रह्मज्ञान के जिज्ञासु ब्राह्मण को। (सः) वह। (विद्वान्) ज्ञानवाला आचार्य। (उपसन्नाय) पास आए हुए को। (सम्यक्) ठीक प्रकार। (प्रशान्तचित्ताय) जिसका चित्त भोग की इच्छा से नितान्त उज्ज्वल हो गया है। (शमान्विताय) जिसने मनस्थिर कर लिया हो। (येन) जिस प्रकार से। (अक्षरम्) नाश रहित। (पुरुषं) सम्पूर्ण ब्रह्मांड में रहनेवाले परमात्मा को। (वेद) जाने, अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान सब प्रकार से हो जावे। (सत्यम्) नित्य रहनेवाले अनादि। (प्रोवाच) उपदेश करके बतावे। (तत्त्वतः) तत्त्व के साथ जिस प्रकार की है उसी प्रकार बतावे। (ब्रह्मविद्याम्) ब्रह्म के जानने के साधनों और उसके स्वरूप को जिसका नाम ब्रह्मविद्या है।

(अर्थ) जब श्रद्धा से पूर्ण ब्रह्मविद्या का अधिकारी जिसने तप से अन्तःकरण से मल दोष को दूर कर लिया हो। जिसने ब्रह्मचर्य से अपने भीतर इस प्रकार का प्रकाश उत्पन्न कर लिया हो, जिससे ब्रह्मज्ञान के उपदेश समझ सके। जिसने योग के अष्टाङ्ग के अभ्यास से या वैराग्य के द्वारा मन स्थिर कर लिया हो। जिसके मन में किसी प्रकार की इच्छा शेष न रही हो। जिसका केवल आवरण ही शेष रहा हो। इस प्रकार के ब्रह्मविद्या के समीप आये हुए अधिकारी को वह ज्ञानी आचार्य ब्रह्मविद्या का उपदेश करे।

प्रश्न—इस बंधन की क्या आवश्यकता है, जो उपदेश सुनने आये, उपदेश करे ?

उत्तर—यदि वैद्य सब रोगियों को एक ही औषधि देने लगे

और उनके अधिकार का विचार न करे, तो लाभ के स्थान में हानि अधिक होगी। इसलिये जिसको शिक्षा की आवश्यकता है उसे शिक्षा दे। और जिसे कर्मकाण्ड के उपदेश की आवश्यकता है, उसे कर्मकाण्ड का उपदेश करे, जिससे उसका मन शुद्ध हो जावे। जिसको मन के स्थिर करने के लिये योग के अभ्यास अथवा वैराग्य की आवश्यकता है, उसे उसका उपदेश करे, जो ठीक ब्रह्मज्ञान का अधिकारी हो, उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश करे।

प्रश्न—ब्रह्मज्ञान के अधिकारी सब हैं; देखो जिसको उपदेश मिला है सब ही अपने को ब्रह्म बताते हैं।

उत्तर—यह ब्रह्मज्ञान नहीं, किन्तु तोते की भाँति बिना समझे रटना है। जैसे एक आदमी ने तोते को सिखा दिया गंगाराम नलकी पर नहीं बैठता। तोता वह शब्द सीख गया। एक दिन नलकी पर जा बैठा और कहने लगा गंगाराम नलकी पर नहीं बैठता। इसी प्रकार आजकल के ब्रह्मज्ञानी हैं।

प्रश्न—बताया जाता है कि ब्रह्मज्ञान का अधिकार सब को है। कोई इस जन्म में साधन करते हैं, कोई पूर्व जन्म में कर चुके हैं।

उत्तर—साधन करता हुआ देखने की आवश्यकता नहीं, किन्तु साधनों से युक्त देखने की आवश्यकता है। अतः साधन किये हुए पुरुषों के जो लक्षण हैं, जिसमें वह पाए जावें उसको उपदेश करे। चाहे इस जन्म में साधन किये हों, चाहे पहले जन्म में, लक्षण दोनों में विद्यमान होंगे। जिस अधिकारी में लक्षण पाए जावें, उसको उपदेश करना चाहिये, प्रत्येक को नहीं।

इति प्रथम मुण्डक का दूसरा खण्ड समाप्त हुआ।

अथ द्वितीय मुण्डक-प्रथम खंड

—:*:—

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः। तथाक्षरात् पुरुषाः सौम्य! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥१।२।१॥

(शब्दार्थ) (तत्) उस कारण के विचार। (एतत्) यह बात। (सत्यम्) ठीक है। (यथा) जैसे। (सुदीप्तात्) भले प्रकार जलती हुई। (पावकात्) अग्नि से। (विस्फुलिंगाः) चिनगारियाँ (सहस्रशः) अनन्त सहस्रों लक्षों। (प्रभवन्ते) उत्पन्न होते हैं। (सरूपा) उपादान कारण के अनुकूल। (तथा) ऐसे ही। (अक्षरात्) नाश रहित कारण प्रकृति से। (पुरुषाः) यह सम्पूर्ण शरीर हाथ पाँव वाले। (सौम्य) शान्तिस्वरूप जिज्ञासु। (भावाः) यह सब चैतन्य जीव जो दृष्टि पड़ते हैं। (प्रजायन्ते) उत्पन्न होते हैं। (तत्र) उसमें। (च एव) और भी। (अपियन्ति) प्रवेश हो जाते हैं।

(अर्थ) इस दृष्टांत से मालूम होता है यह अक्षर शब्द नाश रहित प्रकृति के लिये प्रयोग हुआ है। इसमें तो किसी को संदेह नहीं कि जिस प्रकार भले प्रकार प्रज्वलित अग्नि से चारों तरफ चिनगारियाँ फैलती हैं अथवा उत्पन्न होती हैं ऐसे ही इस कारण प्रकृति से प्रत्येक शरीर और अन्य वस्तु की सत्ता प्रकाशित होती है और नाश होकर उसी में प्रवेश हो जाती है।

प्रश्न—अक्षर से यहाँ पर प्रकृति क्यों मानी, परमात्मा क्यों न माना ?

उत्तर—दृष्टांत उपादान कारण का है जिससे स्पष्ट है कि उपादान कारण प्रकृति लेना चाहिये। दूसरे सरूपा शब्द आया है जो प्रकृति से ही सम्बन्ध बताता है, जैसा कि श्वेताश्वेतरोपनिषद् में दिखाया है।

प्रश्न—यदि ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण स्वीकार कर लें तो क्या हानि होगी ?

उत्तर—ब्रह्म चेतन्य है, उसको उपादान कारण मानकर कोई जड़ वस्तु संसार में दृष्टि न आवेगी। ब्रह्म सुख स्वरूप है, उसके उपादान कारण होने पर संसार में कोई दुखी नहीं रहेगा। निदान सम्पूर्ण शास्त्र, वेद और उपनिषद् व्यर्थ हो जावेंगे। क्योंकि जब एक ही चेतन्य से सब बनी हैं, तो ज्ञान का कोई कारण ही न होगा।

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स वाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः
॥ २ । २४ ॥

(शब्दार्थ) (दिव्यः) वह परमात्मा जो इस जगत् का बनानेवाला है प्रकाश स्वरूप है। (हि) निश्चय करके। (अमूर्तः) मूर्ति से रहित। (पुरुषः) वह सब में व्यापक परमात्मा है। (सः) वह। (वाह्याभ्यन्तरः) वह बाहर और भीतर दोनों ओर विद्यमान है। (हि) निश्चय करके। (अजः) अजन्मा। (अप्राणः) प्राण रहित। (हि) निश्चय करके। (अमनाः) मन से रहित। (शुभ्रः) शुद्ध है। (हि) निश्चय करके। (अक्षरात्) नाश रहित प्रकृति से। (परतः) जो परे है। (परः) उससे भी परे जो परमात्मा है।

(अर्थ) परमात्मा जो प्रकृति से जगत बनाता है, प्रकाश स्वरूप है और निश्चय करके अमूर्त है। उसकी कोई मूर्ति

अथवा आकृति नहीं और बाहर भीतर सब जगह विद्यमान है। सब से बड़ा होके सब से बाहर और सूक्ष्म होने के कारण सब में व्यापक और अजन्मा है और सर्व व्यापक है। और निश्चय करके कारण प्रकृति जो नाश रहित है तथा सूक्ष्म जीवात्मा से भी सूक्ष्म वह परमात्मा है। इस मन्त्र ने स्पष्ट कर दिया कि न तो परमात्मा को कोई मूर्ति हो सकती है, क्योंकि मूर्ति उसे कहते हैं जिसके अवयव जड़ हों और परस्पर मिले हुए हों। अतः जिसकी मूर्ति है वह संयोगी तथा जड़ है। परमात्मा नित्य और चेतन्य है वह न तो स्थूल (संयोगी) हो सकते हैं और न जड़, क्योंकि संयुक्त वस्तु उत्पन्न होनेवाली होती है। निदान परमात्मा को मूर्तिमान नहीं कह सकते। निस्संदेह प्रत्येक मूर्ति का स्वामी होने से उसे मूर्तिवाला कह सकते हैं। परन्तु उसका अपना शरीर या मूर्ति कोई नहीं।

एतस्मात् जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥ ३। २५ ॥

(शब्दार्थ) (एतस्मात्) इस परमात्मा से जिसका वर्णन उपर्युक्त हुआ। (जायते) उत्पन्न हुई हैं। (प्राणः) प्राण। (मनः) मन अर्थात् अन्तःकरण। (सर्वेन्द्रियाणि) सर्व इन्द्रियाँ। (च) और। (खम्) आकाश। (वायुः) वायु। (ज्योतिः) अग्नि। (आपः) जल। (पृथिवी) भूमि। (विश्वस्य) सब चराचर जगत् के। (धारिणी) धारण करनेवाली।

(अर्थ) परमात्मा के इन्द्रियाँ क्यों नहीं, इसके लिये बताते हैं कि उस परमात्मा की शक्ति से यह सब प्राण और इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई हैं। और उसी से आकाश, वायु अग्नि,

जल उत्पन्न हुए हैं। और उसी से सम्पूर्ण जगत् को धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न हुई। जब कि परमात्मा से यह सब उत्पन्न हुए हैं तो परमात्मा नित्य है, नित्य में उत्पन्न होनेवाले गुण कैसे उत्पन्न हो सकते हैं। क्योंकि परमात्मा की भी इन्द्रियाँ स्वीकार की जावें, तो वह इन्द्रियाँ उत्पन्न वाली होने से किसी दूसरे पैदा करनेवाले के आधीन होंगी। यदि उसके उत्पन्न करनेवाला कोई इन्द्रिय वाला होगा, तो उसकी इन्द्रियाँ भी उत्पन्न होनेवाली होंगी, उसके उत्पन्न करनेवाला और कोई होना चाहिये, इस कारण क्रम दोष लग जायगा।

प्रश्न—यदि नित्य में अनित्य के गुण नहीं आ सकते, तो जीव को इन्द्रियों की क्या आवश्यकता हुई? क्योंकि जीव भी नित्य ही है।

उत्तर—जीव एक देशी है, उसको अपनी सीमा से बाहर की वस्तुओं के देखने के लिये इन्द्रियों की आवश्यकता है। और ज्ञान जो बाहर की वस्तुओं का होता है उसके संस्कार मन पर होते हैं। और जीवात्मा अल्पज्ञता के कारण अपने में विचारता है।

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥ ४। २६॥

(शब्दार्थ) (अग्निः) अग्नि। (मूर्द्धा) उसके सिर के समान है, जिस प्रकार सिर सब से उत्तम है, इसी प्रकार सतोगुणी सिर का काम देती है अथवा जिस प्रकार हम मुख में दाँतों से चबाकर सूक्ष्म करते हैं, परमात्मा अग्नि से पुरुष को परमाणु रूप में ले जाते हैं। (चक्षुषी) इस विराट के नेत्र के

स्थान में। (चन्द्रसूर्यौ) चन्द्र और सूर्य हैं। (दिशाः) दिशा जो आकाश में है । (श्रोत्रे) वह श्रवण का काम देती हैं। (वाग्) उसकी वाणी के स्थान में जिससे उपदेश करता है। (विवृताः) फैला हुआ। (वेदाः) ऋग्, यजुः, साम और अथर्व वेद हैं जिस प्रकार वाणी से उपदेश करते हैं, परमात्म। वेदों के द्वारा उपदेश करते हैं परमात्मा की वाणी के काम वेद से निकलते हैं। (वायु) हवा। (प्राणः) परमात्मा के प्राणों का काम देती है। (हृदयम्) परमात्मा के हृदय के स्थान में। (विश्वम्) जगत्। (अस्य) उसकी है। (पद्भ्याँ) पाँव के स्थान में। (पृथिवी) भूमि है । (हि) निश्चय करके । (एषः) वह परमात्मा। (सर्वभूतान्तरात्मा) सम्पूर्ण भूतों के भीतर व्यापक होनेवाला आत्मा है।

(अर्थ) अब उस परमात्मा का विराट रूप में उपदेश करते हैं कि अग्नि उसके मुख का काम देता है। और नेत्रों का काम सूर्य और चन्द्रमा देते हैं। और कानों का काम आकाश में रहनेवाली दिशाएँ देती हैं । और उसकी वाणी का काम वेद देते हैं, जैसे वाणी से जो कुछ उपदेश किया जाता है, वे उपदेश का काम परमात्मा वेदों से लेते हैं। और वायु प्राणों का काम देती है। और हृदय का काम सम्पूर्ण जगत् देता है। और पाँव का काम पृथिवी देती है ; वह इन सब के भीतर रहनेवाला परमात्मा है। जिस प्रकार शरीर के भीतर नियम पूर्वक हरकत होने से जीवात्मा के होने का प्रमाण मिलता है। इसी प्रकार संसार का नियम पूर्वक क्रियावान होना परमात्मा की सत्ता का प्रमाण है। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो स्वयं कोई भी विकार कर सके, सब विकार परमात्मा के नियम से होते हैं। वह प्रत्येक वस्तु के भीतर रहकर उसको नियम से चला रहा है।

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्

पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् । पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥ ५ । २७ ॥

(शब्दार्थ) (तस्मात्) परमात्मा से । (अग्निः) स्थूल दशा में । (समिधाः) चलने की क्रिया वाली । (यस्य) जिसका । (सूर्य) सूर्य है । (सोमात्) चन्द्रमा की अग्नि से । (पर्जन्यः) वर्षा करने वाला मेघ होता है और । (ओषधयः) वर्षा से जो अन्न और सम्पूर्ण औषधियाँ उत्पन्न होती हैं । (पृथिव्याम्) जब वह मेघ बरस कर पृथिवी पर गिरता है । (पुमान्) मनुष्य । (रेतः) वीर्य को । (सिञ्चति) सींचता है । (योषितायाँ) स्त्री के भीतर । (बह्वीः प्रजाः) बहु प्रकार की प्रजा । (पुरुषात्) पुरुष परमात्मा से । (सम्प्रसूताः) उत्पन्न हुई है ।

(अर्थ) उसमें अग्नि स्थूल दशा में जिसको उभारनेवाला सूर्य है उत्पन्न हुआ । क्योंकि अग्नि जो शरीर, इन्द्रिय और विषय रूप से तीन प्रकार की हुई, वह परमात्मा के कारण से हुई । और चन्द्र में रहने वाली अग्नि से, वायु लगने से एकत्र होकर बरसने वाले मेघ उत्पन्न हुए । और जब मेघ पृथिवी पर गिरे, तो उसके गिरने से जो वर्षा हुई, उससे औषधियाँ अर्थात् अन्न उत्पन्न हुआ । और अन्न के खाने से मनुष्य में वीर्य्य उत्पन्न हुआ जब वह वीर्य्य पुरुष से स्त्री में पहुँचा, तो ऋतुदान के द्वारा बहु प्रकार की प्रजा हो गई । प्रयोजन यह कि जो संसार में क्रिया नियम से हो रही है । और जो कुछ प्रबंध चल रहा है ! वह सब का सब परमात्मा की दी हुई हरकत से चल रहा है ।

प्रश्न—क्या परमात्मा क्रियावान है ? जो दूसरे को क्रिया (हरकत) दे रहा है ।

उत्तर—सर्वव्यापक परमात्मा किस प्रकार क्रिया कर सकता है। क्योंकि एक स्थान छोड़ कर दूसरे स्थान पर जाने का नाम क्रिया है। परमात्मा कहाँ नहीं जो उस स्थान से दूसरे स्थान पर जावे। वह स्वयम् क्रिया नहीं करता, परन्तु दूसरों को क्रिया दे सकता है।

प्रश्न—यह किस प्रकार सम्भव है कि अचल वस्तु दूसरी वस्तु को चला सके!

उत्तर—जिस प्रकार चुम्बक पत्थर स्वयम् अचल होता हुआ लोहे को हरकत दे सकता है; इसी प्रकार परमात्मा भी स्वयम् अचल होता हुआ दूसरी वस्तुओं को चला सकता है।

तस्माद्दचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च। संवत्सरं च यजामानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥६।२८॥

(शब्दार्थ) (तस्मात्) उस परमात्मा से। (ऋचः) ऋग्वेद के मंत्र उत्पन्न हुए। (साम) उसी से सामवेद उत्पन्न हुआ। (यजूंषि) यजुर्वेद। (दीक्षा) ब्रह्मचर्याश्रम के धारण करने पर जो उपदेश दिया जाता है और जो चिह्न नियत किये जाते हैं। (यज्ञाः) अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध पर्यन्त जितने यज्ञ हैं। (च) और। (क्रतवः) दूसरी प्रकार के यज्ञादि कर्म। (दक्षिणाः) जो यज्ञ करने वालों को दक्षिणा मिलती है अथवा जो कर्म का फल है वह भी दक्षिणा ही है। (च) और। (यजमानः) यज्ञ कर्म के करने वाले। (सम्वत्सरम्) रात, दिन, मास, वर्ष आदि समय के भाग। (च) और। (पवते) प्रकाश करे। (यत्र) जहाँ। (सूर्यः) सूर्य प्रकाश करे। (सोम) चन्द्र प्रकाश करे।

(अर्थ) अब बताते हैं कि कर्म करता हुआ किस प्रकार कर्म के अभिमान से बचा रहे कि ऋग्वेद, यजुर्वेद और साम-

वेद सब परमात्मा ने ही बनाये हैं। और यज्ञ की सामिग्री और यज्ञ के नियम और यज्ञ में दक्षिणा देने वाली वस्तुएँ यह सब उस परमात्मा ने बनाई हैं। रात्रि दिवस, और यज्ञ करने में जिन स्थानों को चन्द्रमा प्रकाश करता है, जिनको सूर्य प्रकाश करता है वह सब ही परमात्मा की बनाई हुई हैं, उनमें कौन सी वस्तुएँ हैं, जिनको मैं अपना समझ कर अभिमान करूँ। निदान ऐसा विचार करके जब यज्ञ करता है तो केवल अपने कर्त्तव्य को परमात्मा ने नियत कर दिया है, पूर्ण करता है वह अभिमान से बचा रहता है।

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि। प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च॥७।२६॥

(शब्दार्थ) (तस्मात्) उसी जगत्-कर्त्ता परमात्मा के बनाने से। (देवाः) ऋषि लोग जो बिना माता पिता आदि के संसार में उत्पन्न होते हैं। (बहुधा) बहु प्रकार के। (सम्प्रसूता) उत्पन्न हुए हैं। (साध्याः) इसी जन्म में उन्नति प्राप्त करने योग्य दूसरी प्रकार के देवता। (मनुष्याः) सामान्य बुद्धि वाले। (पशवः) पशु। (वयांसि) पक्षी। (प्राणपनौ) प्राणापानादि वायु। (व्रीहियवौ) अग्निहोत्र करने योग्य चावल यव। (तपः) शरीर के संस्कार के लिये परिश्रम। (श्रद्धा) श्रद्धा जो शुभ काम और विद्वानों के भीतर एक प्रकार की आदर की दृष्टि होती है। (सत्यं) आत्मज्ञान के अनुकूल कहना। (ब्रह्मचर्यं) वेद के नियमानुकूल इन्द्रियों का रोकना (विधिश्च) कि इस प्रकार करो, ऐसा मत करो।

(अर्थ) उसी परमात्मा से आदि संसार में बहु प्रकार के देव ऋषि जो विना माता पिता के उत्पन्न हुए, उसी परमात्मा से वह ऋषि जो इसी जन्म के कर्मों से मुक्ति प्राप्त करने के योग्य

हैं उत्पन्न हुए, उसी परमात्मा से सर्व मनुष्य साधारण बुद्धि रखनेवाले उत्पन्न हुए और परमात्मा ने चराचर पशु, पक्षी इत्यादि जीव उत्पन्न किये, उसी परमात्मा से प्राण, अपान इत्यादि अनेक प्रकार के अन्न उत्पन्न हुए, उसी परमात्मा से तप करने की शक्ति मनुष्यों को प्राप्त हुई, उसके उपदेश से श्रद्धा उत्पन्न हुई, उसने ही संसार में सत्यव्रत का अभ्यास दिया, उसी ने ब्रह्मचर्याश्रम के नियमों का वेद द्वारा उपदेश किया और उसने प्रत्येक संकलन विकलन की आज्ञा जीवों को देकर इस योग्य बनाया कि वह अपने जीवन को ठीक प्रकार चला सकें जब सब कुछ परमात्मा ने दिया है, तो वह कौन सी वस्तु है जिस पर हम अभिमान करें। वह मनुष्य मूर्ख हैं, जो संसार में दूसरों को नीच समझते हैं। वह मनुष्य मूर्ख हैं, जो कर्म पर अभिमान करते हैं। सब से अधिक वह मनुष्य मूर्ख हैं जो अपने को दूसरों से उत्तम विचार करते हैं। जिसमें जो कुछ गुण हैं वह परमात्मा से हैं और जो कुछ दोष हैं, वह प्रकृति के संग से। जीव तो व्यर्थ अभिमान करनेवाला है।

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः। सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्तसप्त ॥८।१०॥

(शब्दार्थ) (सप्तप्राण) सात प्राण सिर में वास करने वाले, दो नेत्र में वास करनेवाले, दो कान में वास करनेवाले, दो नाक में, एक मुख में। (प्रभवन्ति) उत्पन्न होते हैं। (तस्मात्) उस परमात्मा से। (सप्तार्चिषः) सात प्रकार की किरणें जो सात प्रकार के पृथक्-पृथक् देशों को प्रकाश करती हैं। (समिधः) इस अग्नि को उभारनेवाली समिधा। (सप्तहोमाः) सात प्रकार के विषयों को ग्रहणवाली शक्ति। (सप्त) सात। (इमे) प्रत्यक्ष। (लोकाः) देखने का कारण अथवा जो दृष्टि पड़ते हैं शरीर मन में।

(चरन्ति) क्रिया करते हैं। (प्राणाः) प्राण (गुहाशया) जो सोते समय अन्तः करण के भीतर स्थित होते हैं। (निहिताः) स्थित रहते हुए। (सप्त सप्त) सात सात।

(अर्थ) ज्ञानेन्द्रियाँ और उसमें काम करने की शक्ति देने वाले सात प्राण और उनकी सहायक शक्तियाँ और कुल प्रबंध जो इस शरीर के भीतर स्थित हैं, जिससे ज्ञानेन्द्रियाँ और उनकी प्रकाश शक्तियाँ और उनके सहायक सब परमात्मा ने ही बनाए हैं।

प्रश्न—सात प्राणों से क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—सिर के भीतर जो ज्ञानेन्द्रियों के सात छिद्र हैं, उनको सहायता देनेवाली जो प्राण-शक्ति है, वह सात छिद्रों से सम्बन्ध रखते हुए सात प्राण कहलाते हैं।

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवःसर्वरूपाः । अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥६।३१॥

(शब्दार्थ) (अतः) उस परमतमा से। (समुद्राः) सम्पूर्ण समुद्र। (गिरयः) समस्त पहाड़। (सर्वे) सब। (अस्मात्) उस परमात्मा से। (स्यन्दन्ते) बह रहे हैं। (सिन्धवः) समस्त नद्यादि। (सर्वरूपाः) उत्तर से दक्षिण को जानेवाली, पूर्व से पच्छिम को जानेवाली, पच्छिम से पूर्व को जानेवाली, दक्षिण से उत्तर को जानेवाली। (अतः) उस परमात्मा से। (च) और। (सर्वाः) सब। (ओषधयः) औषधि अन्न इत्यादि। (रसश्च) सम्पूर्ण रज। (येन) जिससे। (एषः) वह परमात्मा। (भूतैः) पंच भूतों से बने हुए अस्थि, मांस, चर्बी इत्यादि से। (तिष्ठते) शरीर में स्थित होता है। (हि) निश्चय करके। (अन्तरात्मा) जो शरीर के भीतर रहनेवाला जीवात्मा है।

(अर्थ) उस परमात्मा ने ही सम्पूर्ण समुद्र जो संसार को घेरे हुए हैं, इसी लोक के नहीं, किन्तु जितने सितारे ब्रह्माण्ड में हैं, उनमें जितने समुद्रहैं, पहाड़ हैं, और जितने बहानेवाले (नद) नदी हैं, चाहे वह उत्तर से दक्षिण को जानेवाली हों अथवा दक्षिण से उत्तर को, चाहें पच्छिम से पूर्व को और पूर्व से पच्छिम को सब उसी परमात्मा से उत्पन्न हुई हैं। और उसी परमात्मा से प्रत्येक प्रकार का अन्न और औषधियाँ उत्पन्न हुईं। और उसी से भीतर जितने रस उत्पन्न होते हैं जिससे अस्थि, मांस, चर्बी इत्यादि शरीर के भाग बने हैं यह सब उसी परमात्मा से बने हैं, जिस शरीर के भीतर आत्मा रहता है, वह सब परमात्मा ने ही बनाया है, जिस देश में रहता है, वह देश भी परमात्मा ने ही बनाया है। जिस महाद्वीप में हैं, वह परमात्मा ने ही बनाया है, जिस भूमि पर बास करते हैं, वह परमात्मा ने ही बनाई है। जिस ब्रह्माण्ड के बहुत छोटे भाग हैं, हमारी भूमि है, वह सब परमात्मा ने ही बनाई है। पहाड़ और समुद्र उसी ने बन ए हैं। भला उससे पृथक् होकर जीव कहाँ शान्ति पा सकता है।

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रंथिं विकिरतीह सोम्य ॥ १० । ३८ ॥

(शब्दार्थ) (पुरुषः) परमात्मा से। (एव) ही। (इदं) यह। (विश्वं) जगत्। (कर्म) जो कुछ क्रिया की जाती। (तपः) ज्ञान। (ब्रह्म) वेद। (परामृतम्) महान् अमृत अर्थात् नाश रहित। (एतद्) इस बात को। (यः) जो मनुष्य। (वेद) जानता है। (निहितं) स्थित होकर। (गुहायां) भीतर आधे आकाश में। (सः) वह मनुष्य। (अविद्या-ग्रन्थिम्) उलटे ज्ञान की ग्रन्थि को जिससे जीव बँधा हुआ है।

(विकिरति) काट डालता है । (इह) इस संसार में । (सौम्य) हे प्रिय पुत्र ।

(अर्थ) यह सब जगत् परमात्मा के रहने का स्थान है, इसके भीतर बाहर परमात्मा ही है । जो कुछ कर्म और ज्ञान है, वह सब उस परमात्मा का ही है, जो आदमी के आकाश में उनको स्थित करके इस बात को जान जाता है, वह अविद्या की गाँठ को जिससे यह जीव बँधा है, काटकर मुक्त हो जाता है । जब तक परमात्मा के स्वरूप में इस सारे जगत् को और जगत् में परमात्मा के स्वरूप को नहीं देखता । जैसे घड़े के भीतर आकाश और आकाश के भीतर घड़ा है । ऐसे ही सब स्थान में परमात्मा व्यापक है ।

इति द्वितीय मुण्डक का प्रथम खण्ड समाप्त ।

अथ द्वितीय मुण्डक-द्वितीय खण्ड

आविः सन्निहितं गुहाचरन्नाम महत्पद-मत्रैतत्समर्पितम् । एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जा-नथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्यद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥ १ । ३ ॥

(शब्दार्थ) (आविः) जो योगी और ज्ञानी मनुष्यों के शुद्ध और स्थिर मन में प्रकाश होता है । (सन्निहितं) जो सर्वदा उनको निकट ही मालूम होता है । (गुहाचरत) जो ज्ञानियों की बुद्धि में स्थिर होता है । (नाम) प्रसिद्ध है । (महत्) सब से बड़ा । (पदम्) जो प्राप्त होने योग्य । (अत्र) उस अपने अन्तःकरण में मिलनेवाले ब्रह्म में । (एतत्) यह मन । (समर्पितम्) ठीक प्रकार लगाया हुआ । (एजत्) काँपनेवाले । (प्राणत्) प्राणों के द्वारा चेष्टा करनेवाले

मनुष्य और पशु इत्यादि । (निमिषत्) प्राण की चाल से शून्य मृत्यु अवस्था को पहुँचा हुआ । (च) और दूसरे अन्य जीव पत्थर वृक्ष इत्यादि । (असत्) जो संसारी मनुष्यों को सुख मालूम हो । (वरेण्यं) ग्रहण करने या जानने योग्य । (परम्) सब से सूक्ष्म । (विज्ञानाद) प्राकृतिक पदार्थों के ज्ञान से । (यत्) जो । (वरिष्ठम्) बहुत ही उच्च है । (प्रजानाम्) मनुष्यों के लिये । (एतत् जानथ) इसको जानो ।

(अर्थ) जिस ब्रह्म की शक्ति से यह जगत् उत्पन्न होता और स्थित रहता व नाश होता है, यद्यपि वह सब से बड़ा है, तो भी उसका प्रकाश साफ़ और स्थित मन में योगियों को मालूम होता है । जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब सब देश में पड़ता है, परन्तु जहाँ निर्मल जल या साफ़ शीशा हो वहीं दृष्टि आता है । इसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है, परन्तु उसका प्रकाश योगियों और ज्ञानियों के हृदय में होता है, अज्ञानी पुरुष सहस्रों जन्म यत्न करने पर उसको नहीं जान सकते । जैसे नेत्र में अंजन होता है, तो जिसके हाथ में साफ़ और सुथरा शीशा हो और प्रकाश में खड़ा हो, तो वह प्रत्येक स्थान पर नेत्र में अंजन को देख सकता है, परन्तु जिसके हाथ में शीशा नहीं और जो अँधेरे में खड़े हैं, या शीशा मैला बहुत हिल रहा है, वह सम्पूर्ण संसार में घूमकर भी सुरमा को नहीं देख सकता । प्रयोजन यह है कि ब्रह्म यदि दृष्टि पड़ता है, तो योगियों की बुद्धि में दृष्टि आता है और किसी जगह जीवन भर खोज करने से नहीं मिल सकता । दूसरा कोई सुख चाहे वह सांसारिक पदार्थों के प्राप्त होने से हो, चाहे प्राकृतिक पदार्थों के चमत्कार से प्राप्त हो, किसी दशा में उस सुख के सामने नहीं आ सकता, जो सुख परमात्मा के दर्शन से प्राप्त होता है । वह चक्रवर्ती राज्य और संसारिक प्रत्येक सुख से करोड़ों अरबों गुणा उत्तम है । उसके सामने सब सुख तुच्छ हैं । जो इस बात को जानता है, उसको कोई कष्ट हो ही नहीं सकता ।

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च स्मिन्लोका निहिताः लोकिनश्च । तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ् मनः तदेतत्सत्यं तदऽमृतं तद्वेद्धव्यं सौम्य विद्धि ॥ २ । ३४ ॥

(शब्दार्थ) (यदर्चिमत्) जो प्रकाशक का भी प्रकाश है । (यत्) जो । (अणुभ्योऽणु) सूक्ष्म से सूक्ष्म है । (यस्मिन) जिसके भीतर । (लोका) दृष्टि आनेवाले पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, इत्यादि । (निहितः) स्थित हैं । (लोकिनः) जो लोकों में रहनेवाले मनुष्य और पशु इत्यादि हैं । (च) और । (तत्) वह । (एतत्) यह । (अक्षरं) नाश रहित । (ब्रह्म) परमात्मा है । (स) वही ब्रह्म । (प्राणः) सब जगत् के प्राण हैं जो । (तत्) वह ही । (वाक्) वाणी । (मनः) मन है । (तत्) वह । (एतत्) यह एक रहनेवाला है । (तत) वह । (अमृतम्) अमृत । (तत) वह । (वेद्धव्यम्) मन से ताड़ने योग्य । (सोम्य) प्यारे पुत्र । (विद्धि) समझ ले ।

(अर्थ) जो प्रकाश करनेवालों को भी प्रकाश करता है, जो परमात्मा सूक्ष्म में भी सूक्ष्म, छोटे से छोटा है । जिसमें सम्पूर्ण पृथिवी, चन्द्रमा, सूर्य्य इत्यादि लोक और उन लोकों में वास करनेवाले मनुष्य पशु स्थित हैं, वही नाश रहित ब्रह्म सब से बड़ा और सब में व्यापक परमात्मा है । वह सम्पूर्ण जगत् के प्राणों का प्राण और वाणी की वाणी और मन का मन है । और वही तीन काल एकसा रहनेवाला और मौत के भय से निर्भय नित्य मुक्त है अर्थात् अमृत है । और वही निशाना है जिस पर काम करने की जरूरत है । इस बात को प्रिय पुत्र इस प्रकार जान ले ।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरंह्युपासानिशितं

सन्धीयत । आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥ ३ । २५ ॥

(शब्दार्थ) (धनुः) कमान जिससे बाण चलाया जाता है । (गृहीत्वा) पकड़ कर । (औपनिषदं) जो उपनिषदों में, अर्थात् ब्रह्मविद्या की पुस्तकों में दिखाया है । (महास्त्रं) जो बहुत बड़ा अस्त्र है । (शरम्) बाण । (हि) निश्चय करके । (उपासा) जो ब्रह्म और जीव में जो ज्ञान की दूरी इसको ध्यान से दूर करके । (निशितम्) तेज करके । (संधीयत) ठीक लक्ष्य ताक कर । (आयम्य) इस कमान को खींच कर । (तद्भावगतेन) ब्रह्म की भावना से युक्त । (चेतसा) मन के द्वारा । (लक्ष्यं) लक्ष । (तत्) वह । (एव) ही । (अक्षरम्) नाश रहित । (सोम्य) प्रिय शिष्य । (विद्धि) जान ।

(अर्थ) उपनिषद् का बताया हुआ कमान हाथ में पकड़ कर जो बहुत बड़ा शस्त्र है, उसमें बाण उपासना से खूब तेज करके रक्खो । और इस धनुष को खींचकर ब्रह्म के प्रेम से मस्त हुए मन के साथ इस लक्ष पर जो अक्षर ब्रह्म के नाम से पुकारा जाता है, ठीक-ठीक आगे लिखे हुए विधान पर निशाना लगाओ । हे प्रिय शिष्य ! इस नियम को समझो ।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ ४ । २६ ॥

(शब्दार्थ) (प्रणवः) ओंकार यह एक । (धनुः) धनुष है । (शरः) शर । (आत्मा) आत्मा है । (अप्रमत्तेन) आलस को त्याग और सावधान होकर । (वेद्धव्यं) इस बाण को निशाना पर लगाना चाहिये । (शरवत्) तीर को

भाँति। (तन्मयः) अपने विचार को बना कर। (भवेत्) हो जावे।

(अर्थ) ओंकार जो परमात्मा का सर्वोत्तम नाम सब से बड़ा कहाता है, वह धनुष है और आत्मा निश्चय तीर है और जिस लक्ष पर बाण लगाना है, वह ब्रह्म अर्थात् परमात्मा है। अर्थात् ओ३म् के द्वारा आत्मा को परमात्मा में लगाना है। क्योंकि धनुष के द्वारा बाण लक्ष पर लगा करता है, परन्तु किस प्रकार इस बाण को लगाना चाहिये कि बहुत ही सावधानी से, क्योंकि बे-परवाही से यह बाण नहीं लग सकता। किन्तु आलस को त्याग, अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ होकर ओंकार के द्वारा जीवात्मा को परमात्मा की ओर लगाना चाहिए। जिस प्रकार धनुष से छूटा बाण सीधा लक्ष की ओर जाता है, बीच में इधर उधर नहीं जाता, इसी प्रकार आत्मा को सीधा परमात्मा को ओर लगाना चाहिये, इधर उधर नहीं भटकना चाहिये ताकि यह आत्मा परमात्मा जैसा हो जावे, जैसे परमात्मा सत्चित् आनन्द है, इसी प्रकार जीव भी आनंद प्राप्त करके सच्चिदानन्द बन जावे। क्योंकि सत्चित् तो आत्मा पूर्व से ही है, आनन्द परमात्मा से नैमित्तिक प्राप्त हुआ। अतः जीवात्मा परमात्मा जैसा सच्चिदानन्द बन जावेगा।

प्रश्न—क्या जीव ब्रह्म बन सकता है।

उत्तर—जो बनता है वह ब्रह्म कहला ही नहीं सकता। जीव ब्रह्म नहीं बनता, किन्तु उसमें ब्रह्मरूपता अर्थात् ब्रह्म जैसे गुण विद्यमान हो जाते हैं।

प्रश्न—क्या जीव ब्रह्म की भाँति सर्व व्यापक हो जाता है?

उत्तर—नहीं केवल ब्रह्म का आनन्द गुण मिल जाने से सत्चित्, जीवात्मा ब्रह्मरूप कहलाता है; ब्रह्म नहीं। जैसे लोहा अग्नि में गर्म होकर लाल हो जाता है; उस समय लोहा अग्नि रूप तो हो जाता है, परन्तु अग्नि नहीं होता। इसी प्रकार जीव में आनन्द के आ जाने से सच्चिदानन्द हो जाता है, परन्तु सर्व

व्यापक इत्यादि गुण नहीं आते ; केवल आनन्द गुण आता है।

अस्मिन् द्यौ पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः ॥ ५ । ३७ ॥

(शब्दार्थ) (अस्मिन्) इस परमात्मा के भीतर। (द्यौः) सूर्य, चन्द्र, सब लोक अर्थात् ग्रह। (पृथिवी) भूमि। (अन्तरिक्षं) जिसके सहारे वायु और मेघ रहते हैं अर्थात् आकाश। (ओतम्) जिस प्रकार माला की गुरियों में तागा होता है, ऐसे पिरोया हुआ। (मनः) मन। (सह प्राणैः) सम्पूर्ण प्राणों के साथ। (च) और। (सर्वे) सब इन्द्रियाँ इत्यादि। (तम्) उस। (एव) ही। (एकं) एक को। (जानथ) पुरुषार्थ करके साधनों के द्वारा से जानो। (आत्मनम्) एक परमात्मा है। (अन्यः) दूसरे। (वाचः) वाणी। (विमुञ्चथ) नितान्त त्याग दो। (अमृतस्य) मुक्ति का। (एषः) यह। (सेतु) पुल है।

(अर्थ) जिस परमात्मा में सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, तारे इत्यादि समस्त लोक रहते हैं, जिसके भीतर आकाश रहता है। प्रयोजन यह है जो पृथिवी, चन्द्र, सूर्य, तारे, आकाश इत्यादि के योग से भी बड़ा है और जिसमें सम्पूर्ण इन्द्रियों के साथ प्राण पिरोये हुए हैं, जिस प्रकार तागे में माला के मनके। हम उस एक को पुरुषार्थ करके जानें। क्योंकि वह आत्मा ही संसार में सागर से पार उतारने के लिये पुल है। जो इस आत्मा को नहीं जानता, वह दुःख सागर से कभी पार नहीं हो सकता। क्योंकि जिस प्रकार अंधकार को दूर करने के लिये प्रकाश के अतिरिक्त अन्य साधन नहीं। शीत को दूर करने के लिये अतिरिक्त गरमी के दूसरा उपाय नहीं; प्रकृति जड़ अर्थात् परतंत्र होने से दुःख

स्वरूप ही है, जिसमें दुःख ही है, उससे दुःख किस प्रकार दूर हो सकता है। जीवात्मा दुख-सुख दोनों से पृथक् है, वह स्वाभाविक सुखी है न दुखी। इस लिये जीवात्मा से दुख दूर होना भी सम्भवनहीं, केवल परमात्मा ही आनन्द स्वरूप है, उन्हीं से दुःख छूट सकता है। इस लिये परमात्मा को जानने के अतिरिक्त और सब बातों को त्याग दो।

अराइव रथनाभौ संहता इव नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः। ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥ ६। ३८ ॥

(शब्दार्थ) (अराइव) जैसे पुट्ठियाँ पहिये की। (रथनाभौ) गाड़ी के पहिया की वेदी में इधर उधर लगी होती हैं। (संहता इव नाड्यः) मिली है इसी प्रकार नाभि चक्र में सम्पूर्ण नाड़ियाँ। (सः) वह परमात्मा। (एषः) यह। (अन्तश्चरते) इन सबके भीतर विद्यमान है। (बहुधा जायमानः) बहुत से प्रकाशित होता है अर्थात् योग, विराग, ज्ञान और मुक्ति से प्रकाश होने वाला। (ओमित्येवम्) ओ३म् इस शब्द के द्वारा से ही। (ध्यायथ) ध्यान करते हुए। (आत्मानम्) जो सब जगत् में व्यापक है। (स्वस्ति) जो कल्याण स्वरूप है अथवा जिसके ज्ञान से ही कल्याण अर्थात् सुख और शान्ति होती है। (वः) तुमको। (पाराय) दुख के समुद्र से पार करने के लिये। (तमसः) अज्ञान और अंधकार से। (परस्तात्) जो पृथक् है जिसको कभी अविद्या और अज्ञान हो नहीं सकता।

(अर्थ) जिस प्रकार रथ के पहिये की नाभि में पुट्ठियाँ लगी हुई होती हैं, ऐसे शरीर के भीतर रोहें के आकाश में सम्पूर्ण नाड़ियाँ एक स्थान पर मिल रही हैं। इस स्थान पर योगी पुरुष परमात्मा को योग, वैराग्य और ज्ञान से मन को

स्थिर करके उस परमात्मा के स्वरूप को अनुभव करते हैं। उसके ध्यान का विधान यही है कि उसको ओ३म् इस अक्षर के द्वारा जो परमात्मा का सब से बड़ा नाम है, शब्द का उच्चारण और अर्थ के विचार करने से करे। वह ओ३म् तुम्हारे लिये कल्याणकारी अर्थात् दुःख और भय से छुड़ाकर, सुख, शांति और निर्भयता को देनेवाला होगा। और उसके जप और विचार से ध्यान करके तुम इस दुखों के समुद्र से पार जा सकोगे। क्योंकि उस परमात्मा के भीतर किसी प्रकार की अविद्या और अंधकार नहीं। जो स्वयम् अविद्या और अज्ञान से बचा है, वही तुमको गिरने से बचा सकता है। जो प्रकृति अज्ञान स्वरूप है और जो जीव अल्पज्ञ होने से अविद्या के चक्कर में आनेवाला है, उसके संग से तुम इस अविद्या से पार नहीं हो सकते। किन्तु उस ज्ञान स्वरूप परमात्मा की उपासना से ही अविद्या से पार होगे।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि। दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः। मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय। तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥७।३९॥

(शब्दार्थ) (यः) जो। (सर्वज्ञः) सबके जाननेवाला। (सर्ववित्) सबको जानता है। (यस्य) जिसकी। (एषः) यह। (महिमा) महत्ता, बड़ाई। (भुवि) इस पृथिवी पर। (दिव्ये) शुद्ध आकाश में। (ब्रह्मपुरे) ब्रह्माण्ड जो रोहे जिसमें समाधि अवस्था में जीव स्थित होता है। (हि) निश्चय करके। (एष) यह। (व्योम्नि) आकाश में। आत्मा सर्वव्यापक। (प्रतिष्ठितः) स्थित है। (मनोमयः) जिस

प्रकार की मन की अवस्था हो वैसा ही दृष्टि आनेवाला (प्राण शरीरनेता) प्राण जो इन्द्रियों को चलाते हैं और शरीर इनको नियम में चलाने वाला। (प्रतिष्ठितः) स्थित रहता है। (अन्ने) भोजन के कारण से। (हृदयं) रोहे में जो आकाश है। (सन्निधाय) उसके सहारे रह कर। ([illegible] उसके ठीक प्रकार जानने से। (परिपश्यन्ति) सब ओर से देखते हैं या सब स्थान पर देखते हैं। (धीरा) विद्वान् लोग। (आनन्द रूपं) आनन्द स्वरूप। (अमृतम्) जो किसी समय में भी न मरे। (यत्) जो। (विभाति) जो प्रकाश करता।

(अर्थ) जो परमात्मा सब को जाननेवाला है। जो एक ही काल सब को जानता। जिसकी यह महिमा पृथिवी पर प्रकाशित है। जिसकी महिमा में किसी प्रकार का दोष नहीं। जो रोहे कमल में अथवा ब्रह्माण्ड के छिद्र में दृष्टि आता है। जो आकाश में व्यापक होकर स्थित है। जो जीवात्मा मन की अवस्था के अनुकूल अपनी दशा को अनुभव करता है। जो शरीर और प्राणों को प्रबन्ध में चलानेवाला है। जो प्राण भोजन से स्थित रहते हैं। जो रोहे में स्थित होकर उस परमात्मा के ठीक-ठीक जाननेवाले बुद्धिमान् मनुष्य, उस आनन्द स्वरूप अमृत रूप को, जो सब पदार्थों को प्रकाश करता है, उसको प्रत्येक ओर विद्यमान देखने में कोई ऐसी वस्तु नहीं जो उससे न बनी हो। कोई काम करनेवाली शक्ति नहीं, जो उसकी सहायता के विना काम कर सकती हो। जो कुछ संसार में काम हो रहा है, वह उस परमात्मा की महिमा को प्रकाश कराता है। और आकाश के भीतर सूर्य, चन्द्र और तारे काम कर रहे हैं, वह सब उस परमात्मा के नियम में चल रहे हैं। ब्रह्माण्ड के भीतर कोई वस्तु नहीं जो इसके नियम को तोड़ सके। इसकी आज्ञा को उल्लंघन करके कोई दंड से बच नहीं सकता। कोई बड़े से बड़ा महाराजा ऐसा नहीं कि जो उसके वारन्ट मृत्यु को एक मिन्ट के लिये रोक सके। चालीस-चालीस

लाख सेना रखते हुए, तोपें और बन्दूकें, गढ़ और भवन उसके नियम से स्वतंत्र नहीं रह सकते कोई शक्ति नहीं जो उसके दंड से बचा सके।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्तेचास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥८।४०॥

(शब्दार्थ) (भिद्यते) टूट जाती है। (हृदयग्रन्थिः) रोहे की गाँठि अर्थात् सूक्ष्म शरीर से वियोग हो जाता है। जन्म-मरण में तो सूक्ष्म शरीर से साथ रहता है, परन्तु उस दशा में पृथक् हो जाता है। (छिद्यन्ते) नष्ट हो जाते हैं, टूट जाते हैं। (सर्वसंशयाः) सब प्रकार के संदेह नष्ट हो जाते हैं। (च) और। (अस्य) उस ब्रह्मज्ञानी के। (कर्माणि) सब कर्म। (तस्मिन्) उस अवस्था में। (दृष्टे) जब साक्षात् देख लेता है। (परावरे) जो इन्द्रियों से अनुभव होने योग्य नहीं है।

(अर्थ) जब कोई पुरुष इन्द्रियों से अनुभव न होने योग्य परमात्मा को भीतरी ज्ञान चक्षु से देख लेता है, तब उसके रोहे की गाँठ अर्थात् सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध टूट जाता है। सब संदेहों का सम्बन्ध मन से है और मन का सूक्ष्म शरीर से। जब सूक्ष्म शरीर हो न रहा, तो मन कहाँ? जब मन ही नहीं, तो उसमें उत्पन्न होनेवाले संदेह कहाँ? अतः सम्पूर्ण संदेह दूर हो जाते हैं। और जब मन ही नहीं रहा, जिसमें सब कर्मों के संस्कार रहते हैं, तो उसमें रहनेवाले कर्म किस प्रकार रह सकते हैं? उस ज्ञानी के सब कर्म नष्ट हो जाते हैं।

प्रश्न—क्या सम्पूर्ण कर्म ब्रह्मज्ञानी होने पर नष्ट हो जाते हैं?

उत्तर—जब तक कर्मों का अभिमान बना है, तब तक ब्रह्मज्ञानी या मुक्ति हो ही नहीं सकती। जब मुक्ति होती है तब कोई कर्म शेष नहीं रहता। जैसे जब दीवाला निकल जावे, तब लेने और देने दोनों की समाप्ति हो जाती है।

प्रश्न—क्या कारण है कि मुक्ति की दशा में कर्म की समाप्ति मानी जावे ?

उत्तर—कर्म के संस्कार मन में रहते हैं और मन सूक्ष्म शरीर में शामिल है, इसलिये जब सूक्ष्म शरीर और मन नहीं रहेंगे, तब कर्म किस प्रकार रह सकते हैं।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य कर्म को अनादि मानते हैं। जब वह अनादि हैं, तो उनका मुक्ति में नाश कैसे हो सकता है ?

उत्तर—जीव में कर्म करने की शक्ति अनादि है। और कर्म प्रवाह से अनादि हैं। जैसे रात और दिन, सृष्टि और प्रलय क्रम से अनादि हैं, स्वरूप से नहीं।

प्रश्न—क्या सूक्ष्म शरीर मुक्ति में नहीं रहता ?

उत्तर—जब कि सूक्ष्म शरीर प्रकृति से उत्पन्न हुआ है, तो मुक्ति में किस प्रकार साथ रह सकता है। मुक्ति में जीव के साथ नित्य पदार्थ रहते हैं ; अनित्य पदार्थ नहीं रह सकते।

प्रश्न—यदि मुक्ति में सूक्ष्म शरीर की विद्यमानता स्वीकार की जावे, तो क्या दोष होगा ?

उत्तर—उस दशा में सूक्ष्म शरीर नित्य हो जावेगा और जो सूक्ष्म शरीर का उत्पन्न होना शास्त्रों में लिखा है, वह अशु हो जावेगा।

प्रश्न—यदि सूक्ष्म शरीर को अनादि और नित्य स्वीकार कर लें, तो क्या हानि होगी ?

उत्तर—प्रथम तीन के स्थान में चार अनादि हो जावेंगे। दूसरे सूक्ष्म शरीर का जो लक्षण किया है, वह अशुद्ध हो जावेगा।

हिरण्मये परे कोषे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्म विदो विदुः
॥ ६ । ४१ ॥

(शब्दार्थ) (हिरण्यमये) विज्ञानमय कोष है । (परे) अगले कोष में । (विरजं) सम्पूर्ण प्रकार के मल से पृथक् । (ब्रह्म) परमात्मा विद्यमान है । (निष्कलम्) जिस परमात्मा के प्राण, मन इत्यादि कोई कला नहीं । (तत्) वह परमात्मा । (शुभ्रम्) शुद्ध है । (ज्योतिषां-ज्योति) सम्पूर्ण सूर्यादि का भी प्रकाशित करनेवाला है, सूर्यादि सब ही प्रकाशक उसकी शक्ति से प्रकाशित हैं । (तत्) वह शित परमात्मा । (यत्) जिसको । आत्माविदः (आत्मा) को जाननेवाले । (विदुः) (जानते हैं ।

(अर्थ) इस शरीर में पाँच कोष अर्थात् एक अन्नमय कोष, दूसरा प्राणमय कोष, तीसरा मनोमय कोष, चौथा विज्ञानमय कोष, पंचम आनन्दमय कोष । निदान विज्ञानमय कोष से परला जो आनन्दमय कोष है, उसमें ब्रह्म का दर्शन होता है; जिस पर किसी प्रकार का आवरण नहीं । संसार में जो ब्रह्म को देखते हैं, वह प्रकृति के आवरण से ढँका हुआ है, परन्तु आनन्दमय कोष के भीतर इस आवरण से शून्य दृष्टि पड़ता है । वह परमात्मा शुद्ध है और परमात्मा प्रकाश करनेवाले सूर्य, चन्द्र और जीव इत्यादि का भी प्रकाश करनेवाला है उसको वही मनुष्य जानते हैं, जो जीव को जानते हैं; जिसको जीव के तत्त्व का ज्ञान नहीं, उसको परमात्मा का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है । जो मनुष्य अपनी आँख को नहीं देख सकता, वह नेत्र के सुरमा को किस प्रकार देख सकता है । अतः वही मनुष्य परमात्मा को जान सकते हैं, जो प्रथम जीवात्मा को जान सकते हैं ।

प्रश्न—क्या जीव और ब्रह्म एक है ? जीव के जानने से ब्रह्म का ज्ञान होगा ?

उत्तर—जीव ब्रह्म एक नहीं, किन्तु जिस प्रकार नेत्र और सुरमा दो वस्तु हैं, परन्तु उनमें इस प्रकार का सम्बन्ध हैं कि जो नेत्र को देखता है, वह नेत्र के सुरमा को देखता है ।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।तस्मेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥१०।४२॥

(शब्दार्थ) (न) नहीं। (तत्र) आनन्दमय कोष के भीतर। (सूर्यः) सूर्य। (भाति) प्रकाश कर्त्ता है (न) नहीं। (चन्द्रतारकं) यह भी उस स्थान में चन्द्र, तारे प्रकाश करते हैं। (न) नहीं। (इमाविद्युतः) यह विद्युत् जो नेत्र को चकाचौंध करती है। (भान्ति) वहाँ प्रकाश करतीं। (कुतः) कहाँ। (अयम्) यह। (अग्निः) अग्नि। (तमेव) उसके। (भान्तम्) प्रकाश करने से। (अनुभाति) पीछे प्रकाश करते हैं। (सर्वं) सब (तस्य) उसके। (भासा) प्रकाश से। (सर्वम्) सबके सब। (इदं) यह। (विभाति) प्रकाश करते हैं।

(अर्थ) उस आनन्दमय कोष में जहाँ ब्रह्म के दर्शन करते हैं, यह सूर्य प्रकाश नहीं करता। जिस प्रकार सूर्य के सन्मुख जुगनू प्रकाश नहीं कर सकता, ऐसे ही जहाँ उस परमात्मा की चमक नहीं हो सकती, यही चन्द्र तारे, उस स्थान में प्रकाश करते हैं। और न नेत्रों को चकाचौंध करनेवाला विद्युत् उस स्थान में प्रकाश कर सकता है। और जहाँ चन्द्र, सूर्य, तारे और विद्युत् प्रकाश न कर सके, तो वहाँ उस अग्नि के लैम्प और दीपक किस प्रकार प्रकाश कर सकते हैं। उस परमात्मा के प्रकाश से ही सब प्रकाश हुए हैं, अतिरिक्त परमात्मा के प्रकाश देने के, बिजली में प्रकाश करने की शक्ति नहीं। जिस प्रकार चन्द्र और तारे सूर्य के प्रकाश को प्रकाश करते हैं, ऐसे ही सूर्य भी परमात्मा के प्रकाश को लेकर प्रकाश करता है। यदि परमात्मा अपनी शक्ति से परमाणुओं को संयोग गुण देकर इस दशा में न लावे; तो कभी सूर्य, चन्द्र और तारे का कहीं नाम भी सुनाई न दे। अतः जो कुछ जगत में प्रकाश करनेवाली

वस्तु हैं, वह उस सर्व व्यापक ब्रह्म के प्रकाश को लेकर ही प्रकाश कर सकती हैं।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११।४६॥

(शब्दार्थ) (ब्रह्म) परमात्मा। (एव) ही। (इदम्) प्रत्यक्ष तौर पर। (अमृतम्) नाश रहित। (पुरस्तात्) सामने ब्रह्म है अर्थात् पूर्व की ओर। (ब्रह्म) परमात्मा। (पश्चाद्) पीछे की ओर। (ब्रह्म) परमात्मा है। (दक्षिणः) दक्षिण की ओर। (उत्तरेण) उत्तर। (च) और। (अधः) नीचे की ओर। (उर्ध्वम्) ऊपर की ओर। (प्रसृतं) सब से अधिक फैला हुआ, सबसे बड़ा। (ब्रह्म) परमात्मा है। (एव) ही। (इदम्) प्रत्यक्ष। (विश्वम्) जगत् में फैला हुआ। (इदम्) प्रत्यक्ष। (वरिष्ठम्) सब से उत्तम ब्रह्म ही है।

(अर्थ) यह जगत् में अविनाशी रूप से बिराज रहा है। यह ब्रह्म ही आगे की ओर जब देखें, तो उधर ब्रह्म है; पीछे की ओर देखें, तो वह ब्रह्म ही है; यदि दक्षिण की ओर देखें, तो वहाँ ब्रह्म; बाईं ओर देखें, वहाँ भी ब्रह्म है। ऊपर—नीचे की ओर; निदान दशों दिशाओं में फैला हुआ ब्रह्म है। जितनी चीजें हैं वह एक दूसरे की अपेक्षा बड़ी फैली हुई हैं, परन्तु ब्रह्म सब से बड़ा और सब से अधिक फैला हुआ है।

इति द्वितीय मुण्डक का द्वितीय खण्ड समाप्त हुआ।

अथ तृतीय मुण्डक-प्रथम खण्ड

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥१।४४॥

(शब्दार्थ) (द्वा) दो अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा । (सुपर्णा) जिनका मालूम होना बहुत ही प्रशंसनीय है, जो देखने योग्य पक्षी अर्थात् चेतन्य हैं । (सयुजा) जो कभी भी पृथक् नहीं होते, जिनका नित्य सम्बन्ध बना हुआ ही रहता है जो परस्पर बहुत गुणों में अनुकूल होने से मित्र हैं । (समानम्) एक हो । (वृक्षम्) जो वृक्ष की भाँति नष्ट होनेवाला जड़ शरीर है अथवा प्रकृति जिसके बहुत अवयव हैं । (परिषस्वजाते) जो वृक्ष के प्रत्येक भाग में व्यापक है । (तयो) उन दोनों में से । (अन्यः) एक जीवात्मा । (पिप्पलम्) उस वृक्ष के फल को । (स्वादु) और यह समझ कर । (अत्ति) खाता है । (अनश्नन्यः) दूसरा उसके फलों को न खाता हुआ । (अभिचाकशीति) वह उसको देखता है ।

(अर्थ) इस शरीर रूपी वृक्ष में अथवा प्रकृति में दो पक्षी चेतन्य अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा रहते हैं, जो सदा परस्पर मिले हुए हैं । कभी पृथक् हो ही नहीं सकते । क्योंकि जीव के भीतर ईश्वर व्यापक है, जो सर्व व्यापक होने से जीव से कभी पृथक् नहीं हो सकता । जहाँ जीव जाता है, वहीं ईश्वर उसके भीतर विद्यमान होता है । और चेतन्य होने से इन दोनों में मित्रता है अर्थात् जीव को परमात्मा से ही सुख मिलता है ।

क्योंकि समान गुणवाले के संग से ही उन्नति हुआ करती है। इनमें से जीवात्मा तो उस प्रकृति अथवा शरीर के शुभाशुभ कर्मों के फलों को उत्तम समझ कर भोगता है परन्तु ईश्वर साक्षी होकर देखता है, वह कर्मों का फल भोगता है।

प्रश्न—प्रकृति को वृक्ष के साथ क्यों उपमा दी और जीव ब्रह्म को पक्षी के साथ ?

उत्तर—वृक्ष जड़ है, इसलिये जड़ प्रकृति के साथ उपमा दी। और पक्षी चेतन्य है, जिसको जीव और ब्रह्म के साथ उपमा दी। क्योंकि चेतन्य के लिये चेतन्य ही आवश्यक है।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः॥ २। ५॥

(शब्दार्थ) (समाने) एक ही जड़ अचेतन्य। (वृक्षे) प्रकृति अथवा शरीर में। (पुरुषः) जीवात्मा। (निमग्नः) अहंकार से सम्बन्ध उत्पन्न करके, राग द्वेष के चक्कर में बँधा हुआ। (अनीशया) दुखों की जंजीर से छूटने के अयोग्य विचार करके। (शोचति) यह विचार करता है कि मेरा धन नष्ट हो गया, मेरी संतान मर गई इत्यादि। (मुह्यमानः) मोह के जाल में ग्रसित। (जुष्टं) जब ज्ञान से अथवा योगियों के संग से। (यदा) जब। (पश्यति) देखता है। (अन्यम्) अपने दूसरे को जो शोक से रहित है। (ईशम्) जो अपने कर्मों के करने में बलवान है। (अस्य) उसकी। (महिमानम्) उसके बनाये हुए जगत् में उसको महिमा को। (इति) यह। (वीतशोकः) सम्पूर्ण दुःखों से छूट जाता है।

(अर्थ) एक ही वृक्ष में जिसमें जीव और ब्रह्म रहते हैं,

जीवात्मा अहंकार की जंजीर से बँधकर अपने को शरीर मान कर यह विचार करता है कि मैं बलहीन हूँ। मेरी संतान मर गई, मैं उसको बचा नहीं सका। मेरा धन नष्ट हो गया, उसकी रक्षा नहीं कर सका। मेरे मित्र छूट गये। निदान अविद्या के चक्कर में फँसा हुआ इस प्रकार की चिन्ता में लगा रहता है। और अहंकार के कारण उन नष्ट होने वाली वस्तुओं को आत्मा में मान लेता है। आप कलकत्ता में हैं, मकान दिल्ली में। मकान जल जाने का समाचार आता है, रोने लगता है; हाय! मेरा नाश होगया। यद्यपि आप कुशल पूर्वक विद्यमान हैं, रोग से शरीर कृशतम हो गया, रोने लगता है। शोक में दुबला होगया। यद्यपि शरीर हुआ है, आत्मा को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचती, परन्तु अविद्या से दुखी होता है। जब दूसरे साथी परमात्मा के ज्ञान से पूर्ण होने के कारण जो सब कुछ कर सकता है और दुःखों के बंधन से पृथक् है। जिसको न कोई अविद्या में ला सकता है, न दुःख दे सकता है। तब उसकी उपासना से यह भी शोक से पृथक् हो जाता है। परमात्मा ही की उपासना जीव को दुःखों से बचानेवाली है।

प्रश्न—बहुत से मनुष्य तो जीव ब्रह्म को एक बताते हैं और वेद का सिद्धान्त अद्वैत बताते हैं।

उत्तर—अद्वैत तीन प्रकार का होता है। एक स्वरूप के विचार से जब कोई दूसरी वस्तु न हो। परन्तु परमात्मा ऐसा नहीं, क्योंकि परमात्मा के गुण और नाम बताते हैं कि उसकी प्रजा भी है जिसमें वह व्यापक होने से आत्मा कहाता है। दूसरे एकता होती है गुणों में अर्थात् उसके समान गुण किसी में नहीं। तीसरे एकता होती है, उपासना के विचार से। अतः परमात्मा में दो प्रकार की एकता है अर्थात् वह एक ही उपास्य है, उसके समान गुण किसी दूसरे में नहीं।

प्रश्न—वह गुणों में एक है, इसके यह अर्थ कि जो गण उसमें हैं, वह अन्य में नहीं हैं।

उत्तर—यह अर्थ ठीक नहीं, क्योंकि उसमें सत्ता का गुण है, वह दूसरे पदार्थों में भी पाया जाता है।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्। तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ ३। ४६ ॥

(शब्दार्थ) (यदा) जिस समय ज्ञान से अथवा समाधि की दशा में योगी। (पश्यः) शुद्ध अन्तःकरण वाला ज्ञानी मनुष्य। (पश्यति) देखता है। (रुक्मवर्णं) प्रकाश है वर्ण जिसका। (कर्त्तारम्) जगत् उत्पादक। (ईशम्) सम्पूर्ण जगत् के स्वामी सर्व शक्तिमान् परमेश्वर को। (पुरुषं) जो सब में व्यापक है। (ब्रह्मयोनिम्) वेद के कर्त्ता सर्वज्ञ को। (तदा) उस समय। (विद्वान्) वह ज्ञानी पुरुष। (पुण्यपापे) पुण्य और पाप अर्थात् शुभाशुभ कर्म के संस्कारों को। (विधूय) त्याग अर्थात् उस फल से साफ़ होकर। (निरञ्जनः) राग द्वेष से पृथक् होकर। (परमम्) अविद्या इत्यादि क्लेशों से रहित जो सबसे सूक्ष्म है। (साम्यम्) उसकी समानता को। (उपैति) प्राप्त कर लेता है अर्थात् उन दुःखों से छूट जाता है।

(अर्थ) जिस समय मन के मैल को दूर करके और मन को एकत्र करके, योगी पुरुष उस प्रकाश स्वरूप परमात्मा को जिसके प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् प्रकाश हो रहा है और जो इस सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाला है और जो सब का स्वामी है, जिसकी शक्ति से सब ब्रह्मांड का चक्र चल रहा है। चन्द्र, सूर्य और पृथिवी की चाल, तारों का चक्कर, ऋतुओं का परिवर्तन, उत्पन्न होनेवाली चीजों का विकार। निदान प्रत्येक प्रकार के काम जिसकी शक्ति से बन रहे हैं, जब उसको देख लेता है, तब वह पाप और पुण्य की अभिलाषा और

अहंकार के मल को धोकर अर्थात् किसी प्रकार की इच्छा न रहने से और अन्तःकरण के पृथक् हो जाने से परब्रह्म जो परमात्मा है, जो सबसे सूक्ष्म और सबसे बलवान्, उच्च और पूर्ण ज्ञाता दुःखों के योग से रहित, जिसको कोई पकड़ नहीं सकता, उसको प्राप्त करके उसके आनन्द गुण मिल जाने से, उसकी समानता को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार वह सत्-चित् आनन्द स्वरूप है, ऐसे ही उसके आनन्द से जीव भी आनन्द प्राप्त करके सम्पूर्ण दुःखों से पृथक् हो जाता है।

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी। आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥४। ४७॥

(शब्दार्थ) (प्राणः) अपनी शक्ति से सम्पूर्ण जीवों के जीवन का कारण होने से परमात्मा का नाम प्राण है। (हि) निश्चय करके। (एषः) यह परमात्मा है। (यः) जो। (सर्वभूतैः) सम्पूर्ण जीवों के रोहे में प्रकट होनेवाला है। (विभाति) सबके भीतर रहकर प्रत्येक जीव को अपने नियम से पाप पुण्य कर्मों का प्रकाश करनेवाला। (विजानन्) उसको जानने से। (विद्वान्) ज्ञानी पुरुष। (भवेत) होता है। (न) नहीं। (अतिवादी) अधिक वक्ता व्यर्थ प्रलापी। (आत्मक्रीडः) अपनी आत्मा में ही आनन्द को प्राप्त करता है। (आत्मरतिः) आत्म में ही उसको प्रेम होता है, दूसरे से नहीं। (क्रियावान्) अपने ज्ञान के अनुकूल कर्म करता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पुरुष कर्म करता है वाणी से नहीं कहता है। (एषः) यह। (ब्रह्मविदां) वेद के ज्ञाताओं में अथवा परमात्मा के जाननेवालों में। (वरिष्ठः) सब से उत्तम।

(अर्थ) परमात्मा सम्पूर्ण जीवों के जीवन का कारण है, यदि परमात्मा अपनी शक्ति से संयोग न दे, तो कोई जीव

जीवित नहीं रह सकता। जिस प्रकार यह परमात्मा सम्पूर्ण जीवों के भीतर प्रकाश कर रहा है और सम्पूर्ण ब्रह्मांड जो नियमानुकूल चल रहा है, वह परमात्मा की सत्ता को प्रकाश कर रहा है। जिस प्रकार हमारी वाणी को नियम पूर्वक बोलना, हाथ, पांव, का इच्छानुकूल चलना, हमारे भीतर नियम से चलाने वाले आत्मा को प्रकाश करता है। अथवा एञ्जन इच्छुक क्रिया अर्थात् उसका आगे बढ़ना, पीछे हटना, खड़ा होना इत्यादि ड्रायवर की विद्यमानता के प्रमाण हैं। गो एंजन स्टीम से चलता है परन्तु नियमानुकूल इच्छुक क्रिया ड्रायवर का प्रमाण देती है। जो उस परमात्मा को जान लेता है, वह ज्ञानी पुरुष अधिक बोलनेवाला नहीं होता। किन्तु अपने आत्मा के भीतर ही आनन्द भोगना, परमात्मा से ही प्रेम करना, कर्म-काण्डी, सत्यवादी होता है। ब्रह्म के जाननेवालों में वही उत्तम है जो मन, वाणी और कर्म का सच्चा है। इस अगले मन्त्र में उस विधान और साधनों को बताते हैं जिससे उस ब्रह्म का ज्ञान होता है। जो मनुष्य ब्रह्म को साक्षात् करने के लिये दूर-दूर देशों में घूमते हैं या जो पुरुष यह आशा रखते हैं कि गुरु अथवा पीर हमको निकाल कर परमात्मा दिखावेगा, वह बहुत ही भूल करते हैं। गुरु मार्ग बता सकता है; दिखा नहीं सकता।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषः ॥ ५। ४८ ॥

(शब्दार्थ) (सत्येन) सदा सत्य बोलने, सत्य मानने, सत्य करने से। (लभ्यः) मिलता है, जाना जाता है। (तपसा) इन्द्रियों को विषयों से रोकने और शीतोष्ण, क्षुधा तृषा

इत्यादि के सहन करने से। (हि) निश्चय करके। (एषः) यह आत्मा जीवात्मा परमात्मा। (सम्यग्ज्ञानेन) ठीक प्रकार जो वस्तु जैसी है उसको वैसा ही जाना चाहिये। (ब्रह्मचर्येण) सदा वेदानुकूल ८ प्रकार के मैथुनादि से पृथक रहने से। (नित्यम्) सदा से यही नियम है। (अन्तः शरीरे) इस शरीर में परमात्मा के दर्शन होते। (ज्योतिर्मयः) वह प्रकाश स्वरूप उसमें अज्ञान और तम का पता भी नहीं। (हि) निश्चय करके। (शुभ्र) शुद्ध है। (यत्र) जिसको। (पश्यन्ति) देखते हैं। (यतयः) संन्यासी पुरुष। (क्षीणदोषाः) जिनके मल विक्षेप आवरण दोष नष्ट हो गये।

(अर्थ) जो मनुष्य सत्य पर चलता है अर्थात् सत्य ही बोलता, सत्य ही मानता और सत्य ही करता है, वह आत्मा को जान सकता है; परन्तु वह मनुष्य सत्य पर नहीं चल सकता जो तप का अभ्यासी नहीं, जिससे शीतोष्णता, क्षुधा, तृषा और इन्द्रियों को विषयों से रोकता है। जो कष्ट होता है उसके सहन करने का स्वभाव नहीं उत्पन्न कर लिया, यह हित का स्वभाव नहीं हो सकता। जब तक ठीक-ठीक ज्ञान न हो, क्योंकि जो जानता है कि क्षुधा, तृषा प्राणों का धर्म है और मैं प्राण नहीं। वृद्ध होना और मरना शरीर का धर्म है, मेरा नहीं। हर्ष, शोक मन का धर्म है, मेरा नहीं। उसमें तो सहन की शक्ति हो सकती है, दूसरे में नहीं। परन्तु ज्ञान उनको हो सकता है जो नित्य ब्रह्मचर्य के नियमानुकूल गुरु से शिक्षा पाते हैं। जिन मनुष्यों ने ब्रह्मचर्य व्रत का पालन नहीं किया; उनको ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। और जिनको ठीक-ठीक ज्ञान न हो, वह तप नहीं कर सकते; वह सदा आलसी रहते हैं। परन्तु आलसी मनुष्य कभी सन्मार्ग पर नहीं चल सकते। क्योंकि सच्चे को बहुत सी परीक्षाओं में से निकलना पड़ता है। जैसे खरा सुवर्ण कभी अग्नि में जलाया जाता है, कभी परीक्षक (सर्राफ) को दिखाया जाता है और कसौटी पर घिसा जाता है, किसी को

काट कर दिखाया जाता है। इसी प्रकार सत्य की परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाता है, वही सच्चा ठहरता है। निदान जीवात्मा अपने शरीर में तप करके उस प्रकाश स्वरूप को जिसमें किसी प्रकार का मल या तम लेशमात्र भी नहीं होता। और जो शुद्ध है जिसको सब मनुष्य नहीं देख सकते, किन्तु वह संन्यासी मनुष्य जानते हैं। आगे तीन प्रकार की इच्छा को त्याग कर और कर्मकाण्ड से अन्तः करण के मल को, उपासना काण्ड से अन्तःकरण की चंचलता को और अहंकार को त्याग देने से और आवरण दोष को दूर कर दिया हो; जब तक यह तीन प्रकार की इच्छाएँ और तीन प्रकार के दोष विद्यमान हैं, कोई भी परमात्मा को नहीं देख सकता और न कोई दिखा सकता है। अतः ब्रह्मज्ञान के इच्छुकों को बाहर के प्रत्येक प्रकार के आडम्बर को त्याग कर भीतर देखने के लिये जो साधन बताये गये है, उन पर अमल करना चाहिये।

सत्यमेव जायते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥ ६। ४६॥

(शब्दार्थ) सत्यमेव (जयते) सत्य कर्म करके ही मनुष्य मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। (न) नहीं। (अनृतम्) झूठ की जय नहीं होती। (सत्येन) सत्य से। (पन्थाः) मार्ग जिस पर मनुष्य चल रहे हैं। (विततः) फैला हुआ है। (देवयानः) वेदों के जाननेवाले देवतों के कर्म का मार्ग। (येन) जिस माग से। (आक्रमन्ति) परस्पर में उत्साह से चलते हैं। (ऋषयः) वेदों के अर्थ के ठीक ठीक जाननेवाले ज्ञानी। (हि) निश्चय करके। (आप्तकामः) जिन्होंने अपने उद्देश में सफलता प्राप्त करली है, जिस दशा में। (यत्र) जहाँ पर। (तत्) वह। (सत्यस्य) सत्य कर्म करने का। (परमम्) अत्यन्त सुन्दर। (निधानम्) अन्तिम सीमा है।

(अर्थ) अन्तिम सत्य की जय होती है, यद्यपि परीक्षा के समय सत्यता निर्बल मालूम होती है। झूठ को कभी सफलता प्राप्त नहीं होती। मुलम्मा कहने से कोई परीक्षा नहीं करता ; सोना कहने से उसकी परीक्षा की आवश्यकता होती है। इसके यह अर्थ नहीं कि मनुष्य सोने से मुलम्मा को अच्छा समझते हैं इस कारण उसकी परीक्षा नहीं करते। सत्य से ही देवतों के सन्मार्ग का द्वार खुला हुआ है अर्थात् सत्य से मुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं। जिस मार्ग से ऋषि मुक्ति प्राप्त कर चुके हैं, वह वेद के ज्ञानियों का ही मार्ग सत्यता की अन्तिम सीमा है।

प्रश्न—क्या सत्य की सदैव जय होती है ? हम तो प्रायः देखते हैं कि सत्य की पराजय होती है।

उत्तर—अन्त में अवश्य सत्य का जय हागी। मध्य में जो असत्य की जय होती है, वह सत्य की परीक्षा होती है। क्योंकि यदि सत्य पर पूर्ण विश्वास होता है, तो असफलता की दशा में भी सत्य से पृथक नहीं होता। यदि पूर्ण विश्वास नहीं तो वास्तव में वह सत्य नहीं।

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति। दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥ ७ । ५ ० ॥

(शब्दार्थ) (बृहत्) बहुत ही बड़ा। (च) और। (तत्) वह। (दिव्यम्) वह स्वयम् प्रकाश स्वरूप है, उसके देखने को किसी अन्य के प्रकाश की आवश्यतका नहीं। (अचिन्त्यरूपं) जिसके रूप को मन से भी विचार नहीं सकते, मन सब की सीमा पर हो आता है, परन्तु वह इस शक्ति से बाहर है। (सूक्ष्मात् तत सूक्ष्मतरम्) अति सूक्ष्म है। (विभाति) प्रकाश करता है। (दूरात्) दूर से भी। (सुदूरे)

अधिक दूर है। (तत्) वह । (इह) यहाँ । (अन्तिके) निकट ही है। (च) और । (पश्यत्सु) देखनेवालों के भीतर हैं। (इह) यहाँ। (एव) भी। निहितम्) स्थिर है, विद्यमान है। (गुहायाम्) बुद्धि के भीतर।

(अर्थ) वह परमात्मा सबसे बड़ा और प्रकाश स्वरूप है, जिसके जानने के लिये किसी अन्य के प्रकाश की आवश्यकता नहीं। उसके रूप को मन से भी विचार नहीं सकते, क्योंकि उसके गुण अनन्त हैं। क्योंकि सूक्ष्म प्रकृति और जीव से भी अधिक सूक्ष्म है। इसलिये उनके भीतर व्यापक हो रहा है और उनको प्रकाश देता है, जिसके प्रकाश से यह प्रकृति और जीव काम कर रहे हैं। वह अज्ञान को दूर से दूर है। और न मक्का जाकर ही उसको पा सकते हैं और न काशी जाकर और न द्वारका में न रामेश्वर में। और ज्ञानियों के लिये इस शरीर के भीतर ही विद्यमान है। वह मनुष्य अन्तःकरण को शुद्ध करके विज्ञान से मन की वृत्तियों को स्थिर करके अहंकार के आवरण से पृथक् होकर उसको देखना चाहते हैं, उनको यहाँ ही अपनी बुद्धि के भीतर मालूम पड़ता है। तात्पर्य यह है कि परमात्मा को देखने के लिये कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं किंतु अन्तःकरण में देखने की आवश्यकता है। जो मनुष्य परमात्मा को बाहर ढूढते हैं, उनसे परमात्मा बहुत दूर ही हैं और जो हृदय में देखते हैं, उनके नितान्त समीप हैं। बाह्य-ज्ञान से देखनेवालों को वह किसी दशा में मिल नहीं सकते और ज्ञान-चक्षु से देखनेवाले उसको सदा देखते हैं।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवै-स्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध-सत्त्वस्ततस्तुतं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥ ८ ॥५१ ॥

(शब्दार्थ) (न) नहीं । (चक्षुषा) नेत्रों से उसे कोई देख सकता है, क्योंकि वह ज्ञानन्त है, सत् है, सूक्ष्म है। (न) नहीं। (अन्यैः देवैः) दूसरे इन्द्रियों के द्वारा से। (अपि) भी। (वाचा) वाणी से उसके गुणों की सीमा पा सकता है। (तपसा) तप से। (कर्मणा वा) न कर्म से, तप और कर्म से भी वह नहीं देखा जाता। (ज्ञानप्रसादेन) ज्ञान के भीतर जो राग द्वेष इत्यादि दोष प्रस्तुत हैं, जब यह दोष दूर हो जावें। (विशुद्ध सत्त्व) साफ़ दर्पण की भाँति मन शुद्ध हो जावे। उनमें किसी प्रकार की राग अथवा द्वेष संस्कार मौजूद हो। (ततः) उससे। (तु) ही। (तम्) उस परमात्मा को। (पश्यते) देख सकते हैं। (निष्कलम्) निराकार और अनन्त को। (ध्यायमानः) ध्यान करते हैं।

(अर्थ) परमात्मा निराकार है, इसलिये उसको नेत्र देख नहीं सकते और वह अत्यन्त समीप है, इसलिये नेत्र भी देखने में असमर्थ हैं। और महान से भी महान् है, इसलिये भी नेत्र नहीं देख सकते और न वाणी उसके गुणों की सीमा को बता सकती है। और न कोई दूसरी इन्द्रियाँ उसको अनुभव कर सकती हैं। और न उसको तप अर्थात् शीतोष्णादि कष्ट सहन करने से जान सकते हैं और न कर्म से उसका ज्ञान हो सकता है। किन्तु अज्ञान के दोषों से रहित होकर जब बुद्धि शुद्ध हो जाती है अर्थात् मन में जो मल विक्षेप आवरणादि दोष हैं, यह नितान्त दूर हो जाते हैं; तब उस शुद्ध मन से ध्यान करता हुआ उसको देख सकता है।

प्रश्न—इन्द्रियाँ बाहर की चीजों के देखने के लिये हैं उनसे भीतर नहीं देखा जा सकता। इसलिये जो भीतर देखता है वह किसी भौतिक इन्द्रिय अथवा मन से नहीं देखा जाता है। जीवात्मा की स्वाभाविक शक्ति जो बुद्धि है, उससे देखा जाता है।

उत्तर—निराकार के अर्थ असंयोग के हैं। क्योंकि आकार

कहते हैं नियत वस्तुओं के योग को जिसका दूसरा नाम स्थूल है। और जिसमें योग न हो, वह निराकार अर्थात् सूक्ष्म है। अतः सूक्ष्म और स्थूल वस्तु अपने गुणों से ग्रहण की जाती हैं। जिसके देखने के लिये जो साधन नियत हैं, उनसे वह देखा जाता है, दूसरे से नहीं देख सकते।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश । प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानाम् । यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥ ६ । ५२ ॥

(शब्दार्थ) (एषः) यह। (अणुः) सूक्ष्म। (आत्मा) सब में व्यापक। (चेतसा) पवित्र ज्ञान से जो हर प्रकार के दोष से पृथक् हो। (वेदितव्यः) जानने के योग्य है और प्रकार से नहीं। (यस्मिन्) जिसके भीतर। (प्राणः) प्राण-वायु। (पञ्चधा) पाँच प्रकार के प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान नाम वाले। (संविवेश) ठीक प्रकार प्रविष्ट हो रहे हैं। (प्राणैः) प्राण और उसके आश्रय काम करने वाली इन्द्रियों के साथ। (चित्तं) अन्तःकरण। (सर्वं) सब प्रकार के अर्थात् मन और बुद्धि। (ओतम्) मन के मनकों में तागे की भाँति पिरोया हुआ है। (प्रजानाम्) प्रजा का। (यस्मिन्) जिस शरीर के भीतर। (विशुद्धे) शुद्ध होने से अर्थात् तीन प्रकार की इच्छा और राग द्वेष के पृथक् होने से। (विभवति) अपने स्वरूप को प्रकट करता है। (एषः) योगियों को प्रत्यक्ष होने वाला। (आत्मा) परमात्मा।

(अर्थ) उस सूक्ष्म आत्मा को ज्ञान चक्षु से देख सकते हैं। जिस शरीर में पाँच प्रकार के प्राण ठीक प्रकार प्रविष्ट हो रहे हों, प्राणों से सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और चारों प्रकार के भीतरी यंत्र अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त अहंकार इस प्रकार पिरोये हुए

हैं, जैसे माला के मनकों में धागा पिरोया होता है। जिस शरीर में चित्त अथवा अन्तःकरण सम्पूर्ण दोषों से शुद्ध हो जातें हैं। अर्थात् मन में मल अर्थात् दूसरों की क्षति चाहना। चंचलता हर समय इच्छा का बढ़ते रहना। आवरण अहङ्कार से अपनी शक्ति और दशा को अनुभव न करना, किन्तु बड़ा मान लेना और अज्ञान से पदार्थों के स्वरूप को यथार्थ न जानना; किन्तु और का और जानना। यह सब दोष दूर हो जाते हैं, तब वह परमात्मा चित्त में अपना प्रकाश करते हैं, और जिस प्रकार किसी बड़े अफ़सर का आना होता है, तो सम्पूर्ण शहर की सफ़ाई कराते हैं, सम्पूर्ण हाट बाज़ारों में रोशनी करते हैं, क्योंकि एक बड़े अफ़सर को आना है। इसी प्रकार जो अन्तः-करण तम अवस्था में अपवित्र है, वहाँ परमात्मा के दर्शन नहीं होते, किन्तु जो शुद्ध और प्रकाशित है उस चित में परमात्मा के दर्शन होते हैं।

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्ध-सत्वः कामयते यांश्च कामान्। तं तं लोकं जायतं तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्च्चयेद् भूतिकामः॥ १०। ५३॥

(शब्दार्थ) (यम्यम्) जिस जिसको। (लोकं) शरीर को। (मनसा) मन से। (संविभाति) मन से इच्छा करता है। (विशुद्ध-सत्वः) जिसका मन राग, द्वेष, छल कपट, आडम्बर से रहित है। (कामयते) इच्छा करता है। (याञ्श्च) जिनको। (च) और। (कामान्) इच्छाओं को। (तंतम्) उस-उस। (लोकम्) सूर्य, चन्द्रादि अथवा शरीर में। (जायते) उत्पन्न होता है। (तान्) उन उन। (कामान्) इच्छाओं को प्राप्त कर लेता है। (तस्मात्) इस कारण से। (आत्मज्ञम्)

आत्मा के जानने वाले विद्वान् का। (अर्चयेद्) उसकी सेवा करने अर्थात् उसका संग करके उसके गुणों को प्राप्त करते हैं। (भूतिकामः) जिसको योग सिद्ध करने की इच्छा हो, क्योंकि उसके संग से वह कैसा बन सकता है।

(अथ) जिस ज्ञानी पुरुष ने अपना मन शुद्ध कर लिया है, वह जिस-जिस लोक में जाने की इच्छा करता है, अथवा जिस वस्तु की इच्छा रखता हो उसको वह प्राप्त कर सकता है। इस कारण जिस मनुष्य को योग की इच्छा हो कि मैं योग सिद्ध करूं, उसको चाहिए कि आत्मा के जाननेवाले योगियों की सेवा करे।

प्रश्न—अन्तःकरण की शुद्धि होने को, मनुष्यों और दूसरी वस्तुओं की कामना कैसे हो सकती है? क्योंकि अन्तःकरण के शुद्ध होने का प्रमाण यही है कि तीन प्रकार की वस्तु अर्थात् वित्तेषणा, लोकेषणा, पुत्रेषणा की इच्छा न रहे। जिसको इनकी इच्छा है, उसका मन शुद्ध नहीं। और जिसका मन शुद्ध है, उसको इच्छा नहीं?

उत्तर—इच्छा दो भाँति से होती है, एक अपने स्वार्थ से, दूसरे परोपकार के लिये। जिसका मन अपवित्र होता है, उसको अपने लिये इच्छा होती है। और जिसका मन शुद्ध है, उसको दूसरों के उपकार की इच्छा होती है।

प्रश्न—परोपकार का फल अन्तःकरण की शुद्धि है। जब अन्तःकरण शुद्ध हो गया, तो परोपकार का क्या प्रयोजन?

उत्तर—जीवात्मा का स्वभाव कर्म करना है, जिससे वह अतिरिक्त उस दशा के जब कि कर्म करने के यन्त्र मन आदि न हों, कर्म से मन की विद्यमानता में खाली नहीं रह सकता। अतः वह शुभ कर्म करे अथवा अशुभ इसलिये मन के शुद्ध होने पर भी बुद्धिमान परोपकार करते हैं, जिससे पाप की ओर मन न चला जावे।

प्रश्न—शुद्ध मन वाला ज्ञानी भी पाप कर सकता है?

उत्तर—मन से काम करता है, यदि ज्ञानी उसको सन्मार्ग पर जाने देगा तो वह पाप नहीं कर सकता। यदि उसके स्वभाव के विरुद्ध उसको रोकेगा, तो वह जिस प्रकार अवसर मिलेगा कर्म करेगा। इसलिये मन की शुद्धि के पश्चात् योग के साधनों से उसकी चंचलता को रोकने की आवश्यकता विद्वानों ने स्वीकार की है।

इति तृतीय मुण्डक का प्रथम खण्ड समाप्त हुआ।

अथ तृतीय मुण्डक—द्वितीय खण्ड

—:*:—

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्। उपासते पुरुषं येह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तान्ति धीराः॥ १। ५४॥

(शब्दार्थ) (सः) वह ज्ञानी पुरुष जिसका विचार ऊपर हो चुका है। (वेद) जानता है। (एतत) यह प्रत्यक्ष। (परमम्) सब से उत्तम सबसे सूक्ष्म (ब्रह्म) परमात्मा है। (यत्रधाम) जिसमें। (विश्वं) यह सम्पूर्ण जो विद्यमान है। (निहितं) स्थित होकर। (भाति) प्रकाश हो रहा है। (शुभ्रम्) जो शुद्ध है, जिसमें किसी प्रकार का दोष नहीं। (उपासते) उपासना करते हैं। (पुरुषं) उस पुरुष की। (यः) जो ज्ञानी मनुष्य। (हि) निश्चय करके। (अकामाः) निष्प्रयोजन। (ते) वह ज्ञानी मनुष्य। (शुक्रम्) वीर्य को। (एतत्) यह ज्ञानी पुरुष। (अतिवर्त्तन्ति) उसकी शक्ति से बाहर निकल जाते हैं अर्थात् वह विषय भोग नहीं करते। (धीराः) ऐसे बुद्धिमान योगी।

(अर्थ) उक्त गणों से युक्त ज्ञानी जान सकता है कि सब से सूक्ष्म परमात्मा किस स्थान पर दर्शन देते हैं। जिस पर-

मात्मा में यह सम्पूर्ण जगत् स्थित होकर प्रकाश करता है, अतिरिक्त परमात्मा के जगत् की सत्ता का दृष्टि पड़ना कठिन है। क्योंकि जगत् में दो गुण, संयोग और वियोग, काम कर रहे हैं। जो परस्पर विरोधी हैं; एक से उत्पत्ति होती है दूसरे से नाश। यह दोनों एक ही प्रकृति का गुण तो भूल नहीं सकते अतः एक ही माना जाता है। प्रकृति में स्वाभाविक गुण संयोग मान कर भी दुनिया का काम चल नहीं सकता। और न वियोग मान कर चल सकता है। अतः शुद्ध स्वरूप परमात्मा ही संसार में प्रकाश करते हैं। जो उस परमात्मा की निष्काम उपासना करता है, वह संसार के विषयों में नहीं फँसता; वह वीर्य्य को नहीं गिराता। किंतु अपनी सम्पूर्ण शक्ति परमात्मा की उपासना और ज्ञान में व्यय करता है।

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र। पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥ २। ५५॥

(शब्दार्थ) (कामान्) कामनाओं की। (यः) जो मनुष्य। (कामयते) चाहता है। (मन्यमानः) मन में उनकी वासना रखता हुआ। (सः) वह मनुष्य। (कामभि) कामनाओं के कारण। (जायते) उत्पन्न होता है। (तत्र तत्र) उस उस स्थान में जहां की इच्छा थी। (पर्याप्तकामस्य) जिसने कामनाओं को पूर्ण कर लिया है अब उसे कोई इच्छा शेष नहीं। (कृतात्मनः) जिसकी आत्मा काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि से पृथक् हो गई है। (तु) तो। (इह) इस संसार में। (एव) ही। (प्रविलीयन्ति) अपने अपने जिसमें प्रवेश हो जाती हैं। (कामाः) उसकी इच्छा।

(अर्थ) जो मनुष्य संसार की कामनाओं में फँसा हुआ और निशिदिन कामना ही करता रहता है, वह अपनी अभि-

लाषा के अनुकूल बार-बार जन्म लेता है। यदि घोड़े की इच्छा है, तो घोड़े के जन्म में जाता है। यदि स्त्री की इच्छा है, तो स्त्री का जन्म लेता है। यदि सूर्य लोक में जाने की कामना है; और वैसे कर्म किये हैं, तो सूर्य लोक में जाकर जन्म लेता है, प्रयोजन यह है, इच्छा से काम करने का परिणाम जन्म है। मुक्ति नहीं। जिसने आत्मा को कामनाओं से अलग करके काम, क्रोध, लोभ, मोह को आत्मा से दूर रहने दिया है और सब कामनाओं को पर्ण करके उनका फल समझ लिया है। और अब उसके मन में कोई इच्छा भी उत्पन्न नहीं होती। उसकी सब इच्छाएँ अपने अपने कारण अर्थात् सब में प्रवेश हो जाती हैं, उसके साथ जाकर जन्म होता है।

प्रश्न--जिस प्रकार को कामना की जावे, वैसा ही जन्म होता है?

उत्तर--जिस प्रकार की इच्छा से यज्ञादि शुभ कर्म किये किये जावेंगे, वैसा ही जन्म होना सम्भव है।

नाऽयमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्॥ ३। ६॥

(शब्दार्थ) (न) नहीं। (अयमात्मा) यह जीवात्मा, यह परमात्मा (प्रवचनेन लभ्यो) बहुत से व्याख्यान करने से मिल सकता हैं। (न) नहीं। (मेधया) बुद्धि से जाना जाता है। बहुना (श्रुतेन) बहुत सी पुस्तकों के पढ़ने से अथवा बहुत से कथा वार्त्ता और व्याख्यानों के सुनने से जाना जाता है। (यम्) जिस पुरुष को। (एषः) यह जगत् में परमात्मा व्यापक। (वृणुते) अधिकारी समझकर स्वीकार करता हूँ। (तेन) उस पुरुष को। (लभ्यः) ज्ञान होता हैं (तस्य) उसके लिये। (एष) यह जगत्कर्त्ता परमात्मा। (वृणुते)

फैला देता है, प्रकाश करता है। (तनूं) फैलाव को। (स्वाम्) अपने।

(अर्थ) उस परमात्मा को बहुत पढ़ाने अथवा उपदेश करने अथवा व्याख्यान देने से नहीं जान सकते। और न बुद्धि से परमात्मा का ज्ञान होता है और न बहुत से शास्त्रों के सुनने सुनाने और पुस्तकों के पढ़ने-पढ़ाने से परमात्मा को जान सकते हैं। जिसको अधिकारी देखकर यह आत्मा स्वीकार करता है अर्थात् जिसने ज्ञान, कर्म और उपासना से सम्पूर्ण दोषों को दूर कर लिया है, जिसको अतिरिक्त आत्मा के जानने के और कोई कार्य नहीं, जिसका अतिरिक्त आत्मा के और भरोसा नहीं। निदान जिसका सर्वस्व आत्मा ही है। जिसका दूसरी ओर ध्यान ही नहीं। जिसकी बुद्धि पतिव्रता स्त्री की भाँति परमात्मा के ही ध्यान में लगी हुई है, जिसको और और विचार करना भी दुख का कारण मालूम होता है, वह परमात्मा के जानने का अधिकारी है, उसको परमात्मा के दर्शन हो सकते हैं। सब साधन अधिकारी बनने के लिये हैं। जब अधिकारी बन जाता है, तब परमात्मा उस पर अपने स्वरूप का प्रकाश कर देते हैं।

प्रश्न—एक ओर तो कहा जाता है कि परमात्मा बुद्धि से नहीं जाना जाता दूसरी ओर कहा है, परमात्मा केवल बुद्धि से ही जाना जाता है ?

उत्तर—बुद्धि दो भाँति की होती है। एक जीवात्मा का स्वाभाविक ज्ञान। दूसरे एक मन की प्रेरणा से परमात्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। स्वभाविक बुद्धि से समाधि और मुक्त की दशा में ज्ञान होता है।

नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्। एतैरुपायैर्यतते

यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम

॥ ४ । ५७ ॥

(शब्दार्थ) (न) नहीं । (अयमात्मा) यह परमात्मा । (बलहीनेन) जिसने ब्रह्मचर्य का सेवन करके आत्मिक बल नहीं बढ़ाया । (लभ्यः) वह उसको जान सकता है । (न) नहीं । (च) और । (प्रमादात्) जिसने अभिमान में फँसकर आत्म चेतन्य की ओर से लापरवाही की है । (तपसः) तप से भी उसको नहीं जान सकते । (वापि अलिंगात्) पाखण्ड से भी सम्पूर्ण वैदिक धर्म के लक्षणों को त्याग देने से ही परमात्मा नहीं जाना जाता । (एतैः) उस ब्रह्मचर्याश्रम को करने और आलस्य को त्यागने, सत्य, तप करने आदि । (उपायैः) जो उपायों से । (यतते) परिश्रम करता है । (यस्तु) जो कोई । (विद्वान्) ज्ञानी मनुष्य । (तस्य) उसको । (एषः) योग से जानने योग्य । (आत्मा) परमात्मा । (विशवते) प्रवेश करता है; या दिखाता है । (ब्रह्म) सबसे बड़े । (धाम) सबके रहने के स्थान परमेश्वर को ।

(अर्थ) जिस मनुष्य ने ब्रह्मचर्याश्रम धारण करके और कर्म और उपासना से आत्मिक बल प्राप्त नहीं किया, उस शक्ति से शून्य मनुष्य को परमात्मा के दर्शन नहीं हो सकते । और जो अभिमान और नित्य कर्मों से वंचित हैं, उनको भी परमात्मा के दर्शन नहीं हो सकते । और न आडम्बर तप से कोई परमात्मा को जान सकता है । और न वैदिक धर्म के लक्षणों को त्याग कर स्वतन्त्रता से उसको जान सकता है । यदि गृहस्थाश्रम में परोपकार से मन को शुद्ध करके ; इन उपायों से जो वेदों ने बताये हैं, जो विद्वान् पुरुषार्थ करता है, उसको परमात्मा अपने स्वरूप का दर्शन कराते हैं, अथवा वह ब्रह्मधाम में प्रविष्ट होता है । प्रयोजन यह है कि परमात्म

के जानने के लिये बहुत बड़ी शक्ति अर्थात् प्रकृति के विषयों की तुलना करनी पड़ती है। प्रत्येक ओर से विषय आत्मा को अपनी ओर खींचते हैं, मन विषयों की ओर आत्मा को ले जाना चाहता है। यदि आत्मा में बल नहीं है, तो मन के पीछे लग जाता है। यदि ब्रह्म की उपासना के करने से आत्मा बलवान् है। तो विषयों से हटकर परमात्मा की ओर लग जाता है।

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः। ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशान्ति ॥ ५। ५८

(शब्दार्थ) (संप्राप्य) ठीक प्रकार प्राप्त करके। (ऋषयः) वेद जाननेवाले ज्ञानी अथवा वैदिक कर्म के आचार्य (ज्ञानतृप्ताः) बाहर के विषयों को त्याग करके, भीतर के ज्ञान से ही जो तृप्त हैं। (कृतात्मानः) जिनकी आत्मा शुद्ध हो गई है अर्थात् ऊपर की उपाधि से पृथक् हो गये हैं। (वीतरागाः) जिसका राग दूर हो गया है। (ते) वह विद्वान् मनुष्य। (सर्वज्ञ) सबके जाननेवाले, जगत् में व्यापक परमेश्वर को। (सर्वतः) सब ओर से। (प्राप्य) प्राप्त करके। (धीराः) आत्मदर्शन के विचारनेवाले। (युक्तात्मानः) जिनकी बुद्धि, मन परमात्मा से युक्त है। (सर्वमेव) सर्व कारण वा कार्यरूप जगत् को। (आविशन्ति) स्वतंत्रता से घूमते अथवा प्राप्त होते हैं।

(अर्थ) उस परमात्मा को प्राप्त होकर वेद के जाननेवाले ज्ञानी मनुष्य जो ज्ञान से तृप्त हैं। जिनको किसी वस्तु की इच्छा शेष नहीं रही, जिनका आत्मा बाहर की सम्पूर्ण उपाधियों से शुद्ध हो गया है, जिनका राग द्वेष सब नष्ट हो चुका है,

जिनके विषयों की चिंता जड़ मूल से जाती रही है। वह मनुष्य इस सर्व व्यापक, सबके ज्ञाता, सब स्थान पर प्राप्त होकर आत्म विचार में लगे हुए और बुद्धि को परमात्मा की ओर मिलाये हुए सब कारण वा कार्यरूप जगत् में स्वतंत्रता से घूमते हैं। उनको कोई बन्धन नहीं होता और कहीं आने-जाने में बाधा नहीं होती; इसलिये वह स्वतंत्रता से आनन्द भोगते हुए, शान्ति से विचरते हैं।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यास-योगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥ ६ । ५६ ॥

(शब्दार्थ) (वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः) वेदान्त के पुस्तकों से उत्पन्न होनेवाला जो ज्ञान है अर्थात् उपनिषद् और वेदान्त-दर्शन से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उससे जिसने अर्थों को निश्चय कर लिया है। (संन्यासयोगात्) या तो वैराग्य द्वारा अर्थात् प्रत्येक संसारिक वस्तु में दोष मालूम करने से अथवा योगाभ्यास से मन को रोकने से। (यतयः) जिन्होंने इन्द्रियों को वश में कर लिया है, इससे। (शुद्धसत्त्वाः) बुद्धि को सब प्रकार के दोषों से शुद्ध कर लिया है। (ते) वह ज्ञानी पुरुष। (ब्रह्मलोकेषु) ब्रह्मलोक अर्थात् ब्रह्म दर्शन में। (परान्त-काले) महा कल्प की सीमा तक अथवा पराविद्या से उत्पन्न हुए शुद्ध सुख के अन्त काल तक। (परामृताः) परा विद्या से मुक्त हुए जीव। (परिमुच्यन्ति) उस अवस्था से छूट जाते हैं। (सर्वे) सब।

(अर्थ) जो मनुष्य वेदान्त के ग्रन्थों अर्थात् उपनिषदों और वेदान्त सूत्र इत्यादि के सूत्रों और मन से जीवात्मा और परमात्मा और प्रकृति के स्वरूप को निश्चय कर चुके हैं, वह

जीवनमुक्त संन्यास अर्थात् वैराग्य द्वारा सब वस्तुओं में दोष देखने अथवा योग द्वारा मन ठीक करने से अथवा प्रकृति के त्याग और परमात्मा के योग से मन शुद्ध करके, इन्द्रियों को वश में करने वाले महात्मा, ब्रह्मलोक में प्राप्त होकर अर्थात् दर्शन करके पराविद्या के उत्पन्न हुए ज्ञान के अन्त तक पराविद्या से प्राप्त मुक्ति को भोगते हैं और महाकल्प के पश्चात् फिर सब उस दशा से छूट जाते हैं।

प्रश्न—परान्तकाल का अर्थ ब्रह्मायु अथवा महाकल्प अथवा पराविद्या से परान्तज्ञान का अन्तकाल किस प्रकार हो सकता है ?

उत्तर—जब कि ब्रह्मलोक कार्य है जिसको शंकराचार्य इत्यादि विद्वानों ने स्वीकार किया है, तो कार्य की आयु भी होती है। क्योंकि ब्रह्म जो नित्य है उसकी आयु तो नहीं हो सकती, क्योंकि आयु अनित्य की होती है। नित्य पदार्थों में काल का व्यवहार नहीं हो सकता। इसलिये जिस जगह ब्रह्म की आयु लिखी है, इसका प्रयोजन ब्रह्मलोक आयु अथवा ब्रह्म दर्शन की आयु से है। और ब्रह्म दर्शन पराविद्या से होता है, पराविद्या से प्राप्त ब्रह्म-दर्शन का अन्त परान्त कहलाता है।

गताःकलाः पंचदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु। कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति ॥ ७।६० ॥

(शब्दार्थ) (गताः) प्राप्त करके। (कलाः) शरीर से सम्बन्ध रखने वाली प्राणेन्द्रियाँ। (पञ्चदश) पाँच प्राण दश इन्द्रियाँ। (प्रतिष्ठा) अपने कारण। (देवाश्च) विषयों को प्रकाश करने वाली कान आदि, इन्द्रियों। (सर्वे) सब। (प्रतिदेवतासु) आकाश आदि अपने अपने कारणों में।

(कर्माणि) कर्मों से उत्पन्न हुए संस्कार। (विज्ञानमयः) ज्ञान स्वरूप जिसको स्वाभाविक व नैमित्तिक दोनों ज्ञान हों। (च) और। (आत्मा) जीवात्मा। (परे) सब से उच्च। (अव्यय) नाश से रहित में। (सर्वे) सब। (एकीभवन्ति) एकत्र होते हैं।

(अर्थ) मुक्त होने के पश्चात् जीवात्मा के साथ जो पंचादश कला अर्थात् पाँच प्राण और दश इन्द्रियाँ हैं, वह सब अपने अपने कारणों में अर्थात् पाँच भूतों के भीतर प्रवेश हो जाती हैं। और सूक्ष्म शरीर के कारण में प्रविष्ट हो जाने से सम्पूर्ण कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। कर्मों का सम्बन्ध तब ही तक है जब तक जीव को शरीर और अन्तःकरण में अहंकार है, अर्थात् उनको अपना मानता है और जब यह अहंकार नष्ट हुआ, तो सारा सूक्ष्म शरीर अपने कारण में प्रविष्ट हो गया और कर्मों का संस्कार भी सूक्ष्म शरीर के साथ ही गया। कर्मों के नाश होने पर जीवात्मा परमात्मा के साथ रहता है और उससे सुख भोग करता है।

प्रश्न—क्या मुक्ति के काल में जीव ब्रह्म का भेद दूर हो जाता है?

उत्तर—जीव ब्रह्म में जो दूरी थी, वह दूर हो जाती है; क्योंकि न तो देश की दूरी थी न काल की, केवल ज्ञान की दूरी थी वह दूर हो जाती है और ब्रह्म के गुण भी जीव में आ जाते हैं।

तथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्

॥ ८।६१ ॥

(शब्दार्थ) (तथा) जसे। (नद्यः) नदी। (स्यन्दमाना) बहते हुए। (समुद्रे) समुद्र में। (अस्तंगच्छन्ति) प्रविष्ट

होकर अदृष्ट हो जाते हैं। (नामरूपे) नाम और रूप। (विहाय) त्याग कर अर्थात् जब नदी सागर में मिल जाती है तब उनका नाम और रूप दोनों समाप्त हो जाते हैं। (तथा) ऐसे ही। (विद्वान्) ज्ञानी पुरुष। (नामरूपात्) नाम रूप से। (विमुक्तः) छुटकारा पाकर। (परात्परं) सूक्ष्म से सूक्ष्म बड़े से बड़ा चेतन्य से चेतन्य। (पुरुषम्) सर्व व्यापक परमात्मा। (उपैति) प्राप्त होता है। (दिव्यम्) प्रकाश स्वरूप को।

(अर्थ) जिस प्रकार नदियाँ बहती हुई समुद्र में जाकर अपने नाम रूप को त्यागकर समाप्त हो जाती हैं, ऐसे ही विद्वान् ज्ञानी पुरुष नाम रूप जो शरीर के हैं, जो उत्पन्न और नष्ट होनेवाले हैं। इन सब से छूटकर अर्थात शरीर के अहंकार से पृथक् होकर मन और इन्द्रियों से सम्बन्ध छोड़कर अपने भीतर रहनेवाले परमात्मा को सूक्ष्म से सूक्ष्म, बड़े से बड़ा ज्ञानी, धनी से धनी, सुखी से सुखी; निदान प्रत्येक गुण में जो अन्तिम सीमा है, जिससे किसी गुण में कोई समानता नहीं कर सकती। बड़ा तो तब होता है, जब प्रकाश स्वरूप सब को प्रकाश करता है, इसको प्राप्त होता है।

प्रयोजन यह है कि जब तक शरीर में अभिमान है, तब ही तक नाम रूप से सम्बन्ध है। क्योंकि सब नाम रूप इत्यादि जीव के नहीं, किन्तु शरीर के हैं। शरीर के नामरूप में अभिमान करना अविद्या है। तब तक दुख है, जब परमात्मा के ज्ञान से यह अविद्या मिट गई, तो बाहर की ओर दृष्टि दूर हो जाने से, वृत्ति भीतर जाकर जो व्यापक परमात्मा है, उसको प्राप्त करती है।

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्मवेदब्रह्मैव भवति। नास्याऽब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥९।६२॥

(शब्दार्थ) (स यो ह वै) जो परमात्मा के ज्ञान से पूर्ण हो जावे अर्थात् पूर्ण ब्रह्मज्ञानी हो। (तत्) वह। (परमम्) सब से उत्तम। (वेद) जाना जाता है। (ब्रह्म एव भवति) ब्रह्म के गुणों-वाला हो जाता है अथवा ब्रह्म ही हो जाता है। (न) नहीं। (अस्य) उसके। (अब्रह्मवित्) ब्रह्म को न जाननेवाला। (कुले) कुल में। (भवति) होता है। (तरित शोकम्) सम्पूर्ण चिन्ता से मुक्त हो जाता है। (तरति पाप्मानं) पापों से छूटता है। (गुहाग्रन्थिभ्योः) बुद्धि में स्थिर जो राग द्वेष और अविद्या की गाँठ से। (विमुक्तः) छूटकर। (अमृतः) मुक्त। (भवति) हो जाता है।

(अर्थ) जो उस परमात्मा को जो सब से उत्तम है, जान जाता है, वह परमात्मा के अनुकूल ही हो जाता है। उसके कुल में ब्रह्म के न जाननेवाले उत्पन्न नहीं होते। वह सब शोक, मोह से पार हो जाता है और सब पापों से पृथक् होकर और मन में मैं जो राग द्वेष और अहङ्कार की गाँठ हैं, उन सब से विरक्त होकर मुक्त हो जाता है।

प्रश्न—ब्रह्म के अनुकूल हो जाता है, ऐसा क्यों कहा? मनुष्य तो यह कहते हैं कि वह ब्रह्म ही हो जाता है।

उत्तर—जो हो जाता है, वह ब्रह्म नहीं होता। जो नित्य एक रस है, वह ब्रह्म है। और जिसमें परिवर्तन है, वह ब्रह्म नहीं। अतः जो ब्रह्म के ज्ञान से होता है, उसमें ब्रह्मरूपता होती है। जिसको कपिल जी से पता लगता है।

तदेतदृचाभ्युक्तम् क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तस्त इषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम्॥ १०।६३॥

(शब्दार्थ) (तदेतदृचाभ्युक्तम्) इस बात में वेद मंत्र प्रमाण । (क्रियावन्तः) वेदानुकूल क्रिया करने वाला, वेदों के पढ़ने और पढ़ाने वाला ज्ञानी । (ब्रह्मनिष्ठः) जिसका मन ब्रह्म में लगा हुआ है । (स्वयम्) अपने आप। (जुह्वते) फल की इच्छा से पृथक होकर होम करता है । (एकर्षिम्) जिस कर्म का एक ही वेद रूपी ऋषि बताने वाला है । (श्रद्धयन्तः) श्रद्धा के साथ । (तेषाम्) उनको । (एव) ही । (एनाम्) इस मुण्डक उपनिषद् नाम को । (ब्रह्मविद्याम्) ब्रह्म ज्ञान के विधान को । (वदेत्) उपदेश करे । शिरोव्रतं (विधिवत्) सब गुणों को धारण करना, सत् पुरुषो की प्रतिष्ठा करना यह व्रत वेदानुकूल है । (यैस्तु) जिससे । (चीर्णम्) वह उस पर चल सकेगी ।

(अर्थ) यह उपदेश वेदों में भी कहा है । जो वेदानुकूल कर्म करने वाला है, जिसने वेद का पठन पाठन सीखा हो और धर्म जनता हो, जिसके चित्त में ब्रह्म जानने की पूर्ण इच्छा हो अपनी इच्छा से वेदानुकूल होम करने वाला, श्रद्धा से जिज्ञासु मनुष्यों को इस ब्रह्म विद्या का उपदेश करे । जिसने तप से अन्तःकरण शुद्ध नहीं किया । जिस का मन एकाग्र न हो, उनको उपदेश न करे । जिसका व्रत यह हो कि वह कभी धर्म के कामों को न छोड़ेंगे और दूषित न करेंगे । और उनको उपदेश देने से सफलता होती है । जो अधिकारी नहीं, उनको उपदेश करने से सफलता नहीं होती ।

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिर पुरोवच नतद चीर्णव्रतोऽधीते । नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥ ११।६४ ॥

(शब्दार्थ) (तत्) वह । (एतत्) यह ब्रह्मविद्या । (सत्यम्) जो तीन काल में रहता और रहने वाली है । (ऋषि) वेद के

ज्ञाता। (अंगिराः) अंगिरा ऋषि ने। (पुरोवाच) पूर्व समय में उपदेश किया था। (न) नहीं। (एतदचीर्णव्रतोऽधीते) यह ब्रह्मविद्या नहीं पढ़ सकता। (नमः परम ऋषिभ्यो) परमात्मा और वेद के ज्ञानी को नमस्ते। (नमः परम ऋषिभ्यः) वेद के तत्व को जानने वालो को नमस्कार।

(अर्थ) प्राचीन समय में यह ब्रह्म विद्या अंगिरा ऋषि ने ऋषियों को उपदेश की थी। और कहा था कि इस ब्रह्म विद्या को वह मनुष्य जिस ने व्रत के आचरण करने का नियम नहीं रक्खा, न पढ़े। क्योंकि जो अधिकारी नहीं, उसको लाभ नहीं हो सकता। रोगी को औषधि से लाभ हो सकता है, जो रोगी नहीं, उसको औषध हानिकारक है। अधिकार के बिना ब्रह्म विद्या लाभ नहीं दे सकती। अन्त में परम वेद के ज्ञाता ऋषियों को जिन्होंने इस विद्या का प्रचार किया, बार बार नमस्ते हो।

इति हिन्दी अनुवाद मुण्डकोपनिषद् का समाप्त हुआ।

ओ३म् शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

माण्डूक्योपनिषत् परिचय

यह अथर्ववेदीय उपनिषत् माण्डूक्य शाखा के अन्तर्गत है। यह छोटी-सी उपनिषत् बड़े महत्व की है। स्वामी दर्शनानन्दजी ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य इन छैः उपनिषदों पर ही भाष्य किया था। इस उपनिषत् को सुगमता से समझने के लिए निम्न-लिखित तालिका सहायक होगी।

संख्या	लोक	वेद	व्याहृति	मात्रा	अवस्था ४ पाद	विश्वात्मा के ४ रूप	कोष	शरीर	फल	विशेष
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
(१)	पृथिवी	ऋक्	भूः	अ	जागृत प्रथम पाद	वैश्वानर	अन्नमय	स्थूल	१ आदि २ व्याहृति	The consciousness working in the स्थूल शरीर
(२)	अन्तरिक्ष	यजुः	भुवः	उ	स्वप्न द्वितीय पाद	तैजस	प्राणमय मनोमय विज्ञानमय	सूक्ष्म	१ ज्ञानप्राप्ति २ आत्म मयत्व	The consciousness working in the सूक्ष्म शरीर
(३)	द्यौ	साम	स्वः	म	सुषुप्ति तृतीय पाद	प्राज्ञ	आनन्दमय	कारण		The consciousness working in the कारण शरीर from which it can make no impression on the physical brain
(४)	×			अमात्र	तुरीय	शिव	×	×	×	That is a state beyoud the limitation if the five fold पाञ्चभौतिक word